कल्याण
आषाढ़
१९९१
भाग ८
संख्या १२
B.K. Mitra

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम । जय रघुनन्दन राधेश्याम ॥
रघुपति राघव राजा राम । पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ आगारा ॥

[संस्करण २४३००]

वार्षिक मूल्य
भारतमें ४≡)
विदेशमें ६॥=)
(१० शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय अखिलात्मन् जगमय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें ।)
विदेशमें ।≡)
(८ पैंस)

Edited by Hanumanprasad Poddar.
Printed and published by Ghanshyamdas Jalan at the Gita Press, Gorakhpur. (India).

॥ श्रीहरिः ॥

कल्याण आषाढ़ १९९१ की

विषय-सूची

पृष्ठ-संख्या

सूचना

जो ब्राह्मण महानुभाव दस हजार गायत्री-मन्त्र जप करेंगे, उन्हें पाँच पैसेके टिकट भेजनेपर 'श्रीगायत्रीसहस्रनामावली' नामक पुस्तक दी जायगी ।

पता—लक्ष्मीशङ्कर सोमेश्वर कोटाडीया, ऑडीटर, ८, लक्ष्मीदास-स्ट्रीट, मद्रास ।

श्रीहरिः

पुराने और नये ग्राहकोंकी सेवामें निवेदन

(१) यह आठवें वर्षकी १२ वीं यानी अन्तिम संख्या है, इस अंकमें सभी पुराने ग्राहकोंका सालाना चन्दा पूरा हो गया है।

(२) नवें वर्षका पहला अंक शक्ति-अंक होगा। शक्ति-अंक परिशिष्ट भाद्रपदके अंकसहित एक प्रतिका मूल्य ३) होगा, परन्तु पुराने और नये ग्राहकोंको अधिक कीमत नहीं देनी पड़ेगी, उन्हें सहजमें न मिलनेवाली बड़ी सुन्दर चीज सालाना चन्दा ४≈) देनेपर यों ही मिल जायगी।

(३) पुराने और नये ग्राहकोंको चन्देके रुपये ४≈) मनीआर्डरद्वारा जल्दी भेज देने चाहिये। नहीं तो वी० पी० जानेमें बहुत देर हो जायगी। मनीआर्डर-फार्म गत मास भेजा जा चुका है।

(४) जिन महानुभावोंने कल्याणके ग्राहक बनाये हैं और बना रहे हैं, उनके हम हृदयसे कृतज्ञ हैं। कल्याणके प्रचारद्वारा भगवान्के कार्यमें सहायता देकर वे सज्जन बड़ा ही उपकार कर रहे हैं। इस बार उन सबको विशेष चेष्टा करके नये सालके लिये ग्राहक बनाने चाहिये।

(५) इस बार शक्ति-अंक बहुत ही शिक्षाप्रद, मनोहर, संग्रहणीय और दुर्लभ सामग्रियोंसे भरा हुआ होगा। ग्राहक बननेवालोंको बहुत जल्दी करनी चाहिये।

(६) ग्राहकोंको चाहिये कि अपने मनीआर्डरके कूपनमें पूरा नाम, पता, गाँव, डाकघर और जिलेका नाम साफ अक्षरोंमें लिखें। पुराने ग्राहक अपने ग्राहक-नम्बर जरूर लिखें। नये ग्राहक 'नया' शब्द लिखें, नहीं तो कल्याण देरसे पहुँचेगा।

(७) कल्याणके साथ पुस्तकों और चित्रोंकी माँग न लिखें और न कल्याणके मूल्यके साथ पैसे ही भेजें। 'कल्याण' के साथ डाकके नियमानुसार और चीजें नहीं भेजी जा सकतीं। पुस्तक और चित्रोंके लिये मैनेजर गीताप्रेसको लिखें।

(८) सभी प्रेमी ग्राहक-अनुग्राहकोंसे प्रार्थना है कि प्रत्येक सज्जन और प्रत्येक बहिन कम-से-कम दो-दो नये ग्राहक बना देनेकी चेष्टा अवश्य करें।

(९) 'कल्याण' का नया वर्ष श्रावण कृष्ण ११ से शुरू होता है। पूरे सालके ही ग्राहक बनाये जाते हैं। बीचसे ग्राहक नहीं बनाये जाते।

(१०) सजिल्द शक्ति-अंक लगभग प्रकाशित होनेके एक महीने बाद भेजा जा सकेगा, अतएव सजिल्द लेनेवाले ग्राहक धैर्य रक्खें।

(११) जिन सज्जनोंको ग्राहक नहीं रहना हो वे कृपापूर्वक पहलेसे एक कार्ड लिखकर हमें जरूर सूचना दे दें ताकि व्यर्थ वी० पी० भेजकर नुकसान नहीं उठाना पड़े। आपके तीन पैसेके खर्चसे कल्याण-कार्यालयके कम-से-कम छः आने पैसे बच जायँगे।

व्यवस्थापक—कल्याण, गोरखपुर

गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तकें

१-श्रीमद्भगवद्गीता-शांकरभाष्य, सरल हिन्दी-अनुवाद, इसमें मूल भाष्य है और भाष्यके सामने ही अर्थ लिखकर पढ़ने और समझनेमें सुगमता कर दी गयी है। श्रुति, स्मृति, इतिहासोंके प्रमाणोंका सरल अर्थ दिया गया है, भाष्यके पदोंको अलग-अलग करके लिखा गया है और गीतामें आये हुए हरेक शब्दकी पूरी सूची है। पृष्ठ ५१९, ३ चित्र, मू० साधारण जिल्द २॥), पक्की जिल्द ... २॥।)

२-श्रीमद्भगवद्गीता-मूल, पदच्छेद, अन्वय, साधारण भाषा-टीका, टिप्पणी, प्रधान और सूक्ष्म विषय एवं त्यागसे भगवत्प्राप्तिसहित, मोटा टाइप, मजबूत कागज, सुन्दर कपड़ेकी जिल्द, पृष्ठ ५७०, बहुरंगे ४ चित्र १।)

३-श्रीमद्भगवद्गीता-गुजराती टीका, गीता १।) वालीकी तरह ... ... १।)

४-श्रीमद्भगवद्गीता-मराठी टीका, गीता १।) वालीकी तरह ... ... १।)

५-श्रीमद्भगवद्गीता-(श्रीकृष्ण-विज्ञान) अर्थात् श्रीमद्भगवद्गीताका मूलसहित हिन्दी-पद्यानुवाद (सचित्र) पृ० २७५, मोटा एण्टिक कागज, गीताके श्लोकोंके सामने ही कवितामें अनुवाद छपा है। दो सुन्दर चित्र भी हैं। मू० ॥।) स० १)

६-श्रीमद्भगवद्गीता-प्रायः सभी विषय १।) वालीके समान, विशेषता यह है कि श्लोकोंके सिरेपर भावार्थ छपा हुआ है, साइज और टाइप कुछ छोटे, पृष्ठ ४६८, मूल्य ॥≈) सजिल्द ... ॥।=)

७-श्रीमद्भगवद्गीता-बंगला टीका, हिन्दी गीता ॥≈) वालीकी तरह, मूल्य १) सजिल्द ... १)

८-श्रीमद्भगवद्गीता-श्लोक, साधारण भाषा-टीका, टिप्पणी, प्रधान विषय और त्यागसे भगवत्-प्राप्ति नामक निबन्धसहित, साइज मझोला, मोटा टाइप, ३३२ पृष्ठकी शुद्ध छपी और अच्छे कागजकी सचित्र पुस्तकका मू० ॥) स० ॥≈)

९-गीता-साधारण भाषा-टीका, त्यागसे भगवत्प्राप्तिसहित, सचित्र, ३५२ पृष्ठ, मूल्य =)॥ सजिल्द ≈)॥

१०-गीता-मूल, मोटे अक्षरवाली, सचित्र, मूल्य ।-) सजिल्द ... ... ।≈)

११-गीता-भाषा, इसमें श्लोक नहीं है। केवल भाषा है, अक्षर मोटे हैं, १ चित्र भी लगा है, मू० ।) सजिल्द ।=)

१२-गीता-मूल तावीजी, साइज २×२॥ इञ्च, सजिल्द ... ... =)

१३-गीता-मूल, विष्णुसहस्रनामसहित, सचित्र और सजिल्द ... ... =)

१४-गीता-७॥×१० इञ्च साइजके दो पन्नोंमें सम्पूर्ण ... ... -)

१५-गीता-सूची (Gita-List)-संसारकी अनुमान २००० गीताओंका परिचय ... ... ॥)

१६-श्रीविष्णुपुराण-हिन्दी-अनुवाद-सहित, ८ चित्र, पृष्ठ ५४८, मू० २॥) सजिल्द ... ... २॥।)

१७-अध्यात्मरामायण-(सातों काण्ड) सम्पूर्ण, मूल और हिन्दी-अनुवाद-सहित, ८ रंगीन चित्र, मूल्य साधारण जिल्द १॥।) कपड़ेकी जिल्द ... ... २)

१८-प्रेम-योग-सचित्र, लेखक-श्रीवियोगी हरिजी, पृष्ठ ४२०, बहुत मोटा एण्टिक कागज, मू० १।) सजिल्द १॥)

१९-विनय-पत्रिका-सरल हिन्दी-भावार्थ-सहित, ६ चित्र, अनुवादक—श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, मू० १) सजिल्द १।)

२०-श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली (खण्ड १)-सचित्र, श्रीचैतन्यदेवकी इतनी बड़ी जीवनी अभी हिन्दीमें कहीं भी नहीं छपी। यह ५ खण्डोंमें पूर्ण होगी। पृष्ठ ३६०, मूल्य ॥।=) सजिल्द १=) मात्र।

२१- ,, ,, (खण्ड २)-९ चित्र, ४५० पृष्ठ। पहले खण्डके आगेकी लीलाएँ। मू० १=) सजिल्द १।=)

२२- ,, ,, (खण्ड ३)-११ चित्र, ३८४ पृष्ठ, अभी छपा है। अवश्य पढ़िये। मू० १) सजिल्द १।)

२३-तत्त्व-चिन्तामणि भाग १-सचित्र, लेखक-श्रीजयदयालजी गोयन्दका, पृष्ठ ४०६, एण्टिक कागज, मू० ॥=) सजिल्द ॥।-)

२४- ,, ,, २-सचित्र, लेखक- ,, ,, पृष्ठ ६३०, एण्टिक कागज, मू० ॥।=) सजिल्द १=)

२५-भागवतरत्न प्रह्लाद-३ रंगीन, ५ सादे चित्रोंसहित, पृष्ठ ३४०, मोटे अक्षर, सुन्दर छपाई, मूल्य १) सजिल्द १।)

२६-श्रीज्ञानेश्वर-चरित्र-(सचित्र) महाराष्ट्रके प्रसिद्ध सन्तकी जीवनी और उपदेश, मूल्य ... ॥।-)

२७-विष्णुसहस्रनाम-शांकरभाष्य, हिन्दी-अनुवाद-सहित सचित्र मू० ... ... ॥=)

२८-एकादश स्कन्ध-(श्रीमद्भागवत) सचित्र हिन्दी-टीका-सहित। यह स्कन्ध बहुत ही उपदेशपूर्ण है। मू० ॥।) स० १)

२९-देवर्षि नारद-२ रंगीन, ३ सादे चित्रोंसहित, पृष्ठ २४०, सुन्दर अक्षर, मू० ॥।) सजिल्द ... १)

३०-नैवेद्य-(सचित्र) लेखक—श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, पृ० ३५०, मू० ॥=) सजिल्द ... ॥।-)

३१-तुलसीदल-(सचित्र) लेखक— ,, पृष्ठ २६४, मूल्य ॥) सजिल्द ... ॥≈)

३२–श्रीएकनाथ-चरित्र–(सचित्र) प्रसिद्ध महान् भगवद्भक्तकी बड़ी सुन्दर जीवनी, पृष्ठ २४०, मूल्य मात्र ॥)

३३–दिनचर्या–(सचित्र) उठनेसे सोनेतक करने योग्य धार्मिक नित्यकर्मकी बातोंका वर्णन है। इसमें अनेक स्तोत्र, भजन, वर्ण और आश्रम-धर्म आदिकी बातें भी जोड़ दी गयी हैं। पुस्तक रुचिकर है। मूल्य मात्र ॥)

३४–श्रुति-रत्नावली–(सचित्र) लेखक–श्रीभोलेबाबाजी, वेद और उपनिषदोंके चुने हुए मन्त्रोंका अर्थसहित संग्रह। मू० ॥)

३५–विवेक-चूडामणि–(सचित्र) मूल श्लोक और हिन्दी-अनुवाद-सहित, पृष्ठ २२४, मूल्य ।≈) सजिल्द ॥=)

३६–श्रीरामकृष्ण परमहंस–(सचित्र) जीवनीके साथ-साथ ३०१ उपदेशमय वचनोंका संग्रह भी है। पृष्ठ २५०, मू० ।≈)

३७–भक्त-भारती (७ चित्र) कवितामें सात भक्तोंके चरित्र ।≈)
३८–भक्त-बालक—५ चित्रोंसे सुशोभित ।–)
३९–भक्त-नारी—६ चित्रोंसे सुशोभित ।–)
४०–भक्त-पञ्चरत्न—५ चित्रोंसे सुशोभित ।–)
४१–आदर्श भक्त—७ चित्रोंसे सुशोभित ।–)
४२–भक्त-चन्द्रिका–७ चित्रोंसे सुशोभित ।–)
४३–भक्त-सप्तरत्न–७ चित्रोंसे सुशोभित ।–)
४४–भक्त-कुसुम–६ चित्रोंसे सुशोभित ।–)
४५–प्रेमी भक्त–६ चित्रोंसे सुशोभित ।–)
४६–यूरोपकी भक्त-स्त्रियाँ–३ चित्रोंसे सुशोभित ।)
४७–गीतामें भक्ति-योग (सचित्र) ले०–श्रीवियोगी हरिजी ।–)
४८–श्रुतिकी टेर–(सचित्र) ले०–श्रीभोलेबाबाजी ।)
४९–परमार्थ-पत्रावली–श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके कल्याणकारी ५१ पत्रोंका स्वर्ण-संग्रह ।)
५०–माता—श्रीअरविन्दकी अंग्रेजी पुस्तक (Mother) का हिन्दी-अनुवाद ।)
५१–ज्ञानयोग–इसमें जानने योग्य अनेक पारमार्थिक विषयोंका सुन्दर वर्णन है ।)
५२–व्रजकी झाँकी–वर्णनसहित लगभग ५० चित्र ।)
५३–बदरी-केदारकी झाँकी (सचित्र) ।)
५४–गीता-निबन्धावली ≈)॥
५५–प्रबोध-सुधाकर (सचित्र) सटीक ≈)॥
५६–मानव-धर्म–ले०–श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार ≡)
५७–साधन-पथ—ले०— „ =)॥
५८–वेदान्त-छन्दावली–ले०—श्रीभोलेबाबाजी =)॥
५९–अपरोक्षानुभूति–मूल श्लोक और अर्थसहित =)॥
६०–मनन-माला–सचित्र, भक्तोंके कामकी पुस्तक है =)॥
६१–भजन-संग्रह प्रथम भाग सं०–श्रीवियोगी हरिजी =)
६२– „ दूसरा भाग „ =)
६३– „ तीसरा भाग „ =)
६४– „ चौथा भाग „ =)
६५– „ पाँचवाँ भाग (पत्र-पुष्प) =)
६६–चित्रकूटकी झाँकी (२२ चित्र) =)
६७–स्त्रीधर्म-प्रश्नोत्तरी (नये संस्करणमें १० पृष्ठ बढ़े हैं) =)
६८–सच्चा सुख और उसकी प्राप्तिके उपाय –)॥
६९–गीतोक्त सांख्ययोग और निष्काम कर्मयोग –)॥
७०–मनुस्मृति द्वितीय अध्याय अर्थसहित –)॥
७१–श्रीमद्भगवद्गीताके कुछ जानने योग्य विषय –)॥
७२–हनुमानबाहुक सचित्र, सटीक –)॥
७३–आनन्दकी लहरें (सचित्र) –)॥
७४–मनको वश करनेके उपाय (सचित्र) –)।
७५–गीताका सूक्ष्म विषय, पाकेट-साइज –)।
७६–ईश्वर–लेखक–पं० श्रीमदनमोहनजी मालवीय, सबके लिये मन लगाकर पढ़ने योग्य है –)।
७७–मूल गोसाईं-चरित्र –)।
७८–श्रीप्रेमभक्तिप्रकाश, दो रंगीन चित्र –)
७९–त्यागसे भगवत्प्राप्ति (सचित्र) –)
८०–ब्रह्मचर्य–ले०–श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार –)
८१–भगवान् क्या हैं? –)
८२–समाज-सुधार –)
८३–आचार्यके सदुपदेश –)
८४–एक सन्तका अनुभव –)
८५–सप्त-महाव्रत –)
८६–हरेरामभजन २ माला)॥।
८७–विष्णुसहस्रनाम–मूल, मोटा टाइप)॥। सजिल्द –)॥
८८–रामगीता–मूल और अर्थसहित)॥।
८९–सेवाके मन्त्र)॥
९०–सीतारामभजन)॥
९१–प्रश्नोत्तरी–श्रीशंकराचार्यकृत (भाषासहित))॥
९२–सन्ध्या (हिन्दी-विधि सहित))॥
९३–बलिवैश्वदेव-विधि)॥
९४–पातञ्जलयोगदर्शन (मूल))।
९५–गीता द्वितीय अध्याय अर्थसहित, पाकेट-साइज)।
९६–धर्म क्या है?)।
९७–दिव्य सन्देश)।
९८–श्रीहरि-संकीर्तन-धुन)।
९९–कल्याण-भावना ले०–श्रीताराचन्द्रजी पाँड्या)।
१००–लोभमें पाप आधा पैसा
१०१–गजलगीता आधा पैसा

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर।

बहुरंगे चित्र, दाम)॥। प्रतिचित्र

- श्रीरामचतुष्टय (भगवान् श्रीरामरूपमें)
- सदाप्रसन्न राम
- कमललोचन राम
- श्रीरामके चरणोंमें भरत
- भगवान् श्रीरामचन्द्र
- श्रीश्यामसुन्दर
- ब्रह्मा-विष्णुके द्वारा शिवकी स्तुति
- श्रीरामावतार
- भगवान् श्रीरामकी बाललीला
- भगवान् श्रीराम और काकभुशुण्डि
- अहल्योद्धार
- गुरु-सेवा
- धनुष-भंग
- परशुराम-राम
- श्रीसीताराम
- कौशल्या-भरत
- कैकेयीकी क्षमा-याचना
- अनसूया-सीता
- श्रीराम-प्रतिज्ञा
- राम-शबरी
- श्रीसीताजीके गहने
- सुवेल-पर्वतपर श्रीरामकी झाँकी
- राम-रावण-युद्ध
- पुष्पकारूढ श्रीराम
- सिंहासनारूढ श्रीराम
- मारुति-प्रभाव
- श्रीसीताजीकी गोदमें लव-कुश
- भगवान् श्रीकृष्णरूपमें
- वृन्दावनविहारी श्रीकृष्ण
- विश्वविमोहन श्रीकृष्ण
- श्रीश्यामसुन्दर
- श्रीनन्दनन्दन
- आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र
- गोपीकुमार
- व्रज-नव-युवराज
- मोहन
- भक्त-भावन भगवान् श्रीकृष्ण
- साधु-रक्षक श्रीकृष्ण (वसुदेव-देवकीको कारागारमें दर्शन)
- दर्शन-भिक्षा
- तृणावर्त-उद्धार
- श्रीकृष्ण-कलेवा
- वात्सल्य
- माखन-प्रेमी बालकृष्ण
- गो-प्रेमी श्रीकृष्ण
- गो-वंश-प्रिय कन्हैया
- मनमोहनकी तिरछी चितवन
- भवसागरसे उद्धारक भगवान् कृष्ण
- बकासुर-उद्धार
- अघासुर-उद्धार
- कृष्ण-सखा-सह वन-भोजन
- राम-श्यामकी मथुरा-यात्रा
- बन्धन-मुक्तकारी भगवान् श्रीकृष्ण
- सेवक श्रीकृष्ण
- जगत्-पूज्य श्रीकृष्णकी अग्रपूजा
- शिशुपाल-उद्धार
- समदर्शी श्रीकृष्ण
- शान्ति-दूत श्रीकृष्ण
- सारथि श्रीकृष्ण
- मोह-नाशक श्रीकृष्ण
- भक्त (भीष्म) प्रतिज्ञा-रक्षक श्रीकृष्ण
- अश्व-परिचर्या
- जयद्रथ-वध
- श्रीकृष्णका अर्जुनको पुनः ज्ञानोपदेश
- नृग-उद्धार
- परमधाम-गमन
- ध्यानमग्न शिव
- पञ्चमुख परमेश्वर
- मदन-दहन
- शिव-विवाह
- उमा-महेश्वर
- शिव-परिवार
- जगज्जननी उमा
- प्रदोष-नृत्य
- हलाहल-पान
- पाशुपतास्त्रदान
- श्रीहरि-हरकी जल-क्रीड़ा
- श्रीकृष्णकी शिव-स्तुति
- श्रीविष्णु
- कमलापति-स्वागत
- भगवान् मत्स्यरूपमें
- भगवान् कूर्मरूपमें
- भगवान् वराहरूपमें
- भगवान् श्रीनृसिंहदेवकी गोदमें भक्त प्रह्लाद
- भगवान् वामनरूपमें
- भगवान् परशुरामरूपमें
- भगवान् बुद्धरूपमें
- भगवान् कल्किरूपमें
- भगवान् ब्रह्मारूपमें
- भगवान् दत्तात्रेयरूपमें
- भगवान् सूर्यरूपमें
- भगवान् गणपतिरूपमें
- भगवान् अग्निरूपमें
- श्रीगायत्री देवी
- दास-भक्त हनुमान्‌जी
- गुरु द्रोणाचार्य
- भीष्मपितामह
- अजामिल-उद्धार
- सुआ पढ़ावत गणिका तारी
- निमाई-निताई
- प्रेमी भक्त सूरदासजी
- गोस्वामी तुलसीदासजी
- मीरा (कीर्तन)
- मीराबाई (जहरका प्याला)
- प्रेमी भक्त रसखान
- श्रीश्रीमहालक्ष्मी
- ऋषि-आश्रम
- वसुदेवजी श्रीकृष्णजीको गोकुल ले जा रहे हैं
- वर्षामें श्रीकृष्ण-बलराम
- श्रीरामका रामेश्वर-पूजन
- श्रीशिवकृत श्रीरामस्तुति
- भगवान् विष्णुको चक्रदान
- काशी-मुक्ति
- सदाशिव
- भक्त व्याघ्रपाद
- शिव-ताण्डव
- देवकीजी
- लक्ष्मण-कोप

एकरंगे चित्र, दाम)। प्रतिचित्र नेट दाम

- राम-विलाप
- कालियनागपर कृपा
- गोवर्द्धन-धारण
- श्रीकृष्ण-सुदामाकी गुरु-सेवा
- श्रीकृष्ण-द्रौपदी
- चक्रिक भीलको भगवद्दर्शन
- भक्त सुधन्वा
- श्रीश्रीनित्यानन्द-हरिदासका नाम-वितरण
- सन्त तुकाराम
- मालीसे (फूल-फूलमें भगवान्)
- गज-उद्धार
- कर नवनीत लिये

कागज-साइज ५×७॥ इञ्च

बहुरंगे चित्र, दाम)। प्रतिचित्र नेट दाम

श्रीविष्णु
शेषशायी
सदाप्रसन्न राम
कमललोचन राम
विश्वविमोहन श्रीकृष्ण
वृन्दावनविहारी श्रीकृष्ण
आनन्दकन्द श्रीकृष्ण
गोपीकुमार
व्रज-नव-युवराज
श्यामसुन्दर
सुदामा और श्रीकृष्णका प्रेममिलन
भक्त अर्जुन और उनके सारथि श्रीकृष्ण
अर्जुनको गीताका उपदेश
अर्जुनको चतुर्भुजरूपका दर्शन
ध्रुव-नारायण
समुद्रमें पत्थरोंसे दबे प्रह्लाद-का उद्धार
भगवान् नृसिंहकी गोदमें प्रह्लाद
पवन-कुमार
अजामिल-उद्धार
भगवान्‌की गोदमें भक्त चक्रिक
श्रीश्रीचैतन्य
भक्त धन्ना जाटकी रोटियाँ भगवान् ले रहे हैं
गोविन्दके साथ गोविन्द खेल रहे हैं
भक्त गोपाल चरवाहा
मीराबाई (कीर्तन)
भक्त जनाबाई और भगवान्
भक्त परमेष्ठी दर्जी
भक्त जगन्नाथदास भागवतकार
श्रीहरिभक्त हिम्मतदासजी
भक्त वालीग्रामदास
भक्त दक्षिणी तुलसीदासजी
भक्त गोविन्ददास
ऋषि-आश्रम

विशेष सुभीता

१५×२० साइजके सुनहरे और रंगीन २१ चित्रोंकी कीमत ३।=) पैकिंग -) डाकखर्च ॥≡) सब जोड़कर ४=) होते हैं जिसके २।≡) लिये जायँगे।

१०×१५ साइजके सुनहरे और रंगीन २७ चित्रोंकी कीमत १॥।), पैकिंग -)।, डाकखर्च ॥)। सब जोड़कर २।-)॥ होते हैं, जिनके १॥≡) लिये जायँगे।

७॥×१० के सुनहरे और रंगीन १२५ चित्रोंकी कीमत ५।॥≡)।, पैकिंग -)॥, डाकखच ॥=)॥ सब जोड़कर ६॥≡)। होते हैं, जिनके ४-) लिये जायँगे।

५×७॥ साइजके रंगीन ३४ चित्रोंकी कीमत ॥)॥, पैकिंग)॥।, डाकखर्च ।)॥ कुल ॥।=) लिया जायगा।

१५×२०, १०×१५, ७॥×१० और ५×७॥ की चारों सेट एक साथ लेनेवालोंको चित्रोंके मूल्यमें ५×७॥ को छोड़कर बाकीमें ५० % (रुपयेमें आठ आना) कमीशन दिया जायगा अर्थात् छोटे-बड़े २०७ चित्रोंका मूल्य ११॥=)।, डाकखर्च-पैकिंग १)॥ कुल मिलाकर १३-) होता है जिसका ७॥) मात्र लिया जायगा।

कमीशन-नियम

१०×१५ और ७॥×१० साइजके सेट न लेकर खुदरा और बिक्रीके लिये एक साथ लेनेपर दो दर्जनसे १०० तक २५) सैकड़ा, १०० चित्रोंसे २५० तक ३७॥) सैकड़ा और २५० से ऊपर ५०) सैकड़ा कमीशन दिया जायगा। इसमें डाकखर्च ग्राहकका लगेगा। १००) के चित्र लेनेसे ग्राहकके रेलवे स्टेशनपर मालगाड़ीसे फ्री डिलेवरी दी जायगी। ५×७॥ का ५०० चित्र लेनेसे १०) हजार नेट दाम लिया जायगा। १०×७॥ के ५००० चित्र एक साथ लेनेसे नेट प्राइसपर २५) सैकड़ा कमीशन और दिया जायगा।

(१) चित्रका नाम जिस साइजमें दिया हुआ है वह उसी साइजमें मिलेगा, आर्डर देते समय देख लें। समझकर मँगवावें। (२) एक ही चित्र १००० लेनेसे कुछ विशेष रियायत कर दी जायगी। (३) पुस्तकोंके साथ मालगाड़ीसे चित्र मँगानेपर कुल मालका चित्रोंकी क्लासका किराया देना पड़ता है, इसलिये ३०) की पुस्तकोंके साथ नेट प्राइस यानी कमीशन काटकर कम-से-कम ७॥) का चित्र लेनेवालोंको वही चित्र फ्री डिलेवरी दिया जायगा, नहीं तो विशेष भाड़ा ग्राहकोंको देना होगा, आर्डर देते समय इस नियमको समझ लें। (४) केवल २ या ४ चित्र पुस्तकोंके साथ या अकेले नहीं भेजे जाते, क्योंकि रास्तेमें टूट जाते हैं। (५) 'कल्याण' के साथ भी चित्र नहीं भेजे जाते।

नोट—सेट सजिल्द भी मिला करती है। जिल्दका दाम १०×१५ का ॥=), ७॥×१० का ॥), ५×७॥ का ≡) लिया जाता है। सजिल्द सेटका डाकखर्च ज्यादा लगता है।

कल्याणके नियम

उद्देश्य

भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचार-समन्वित लेखोंद्वारा जनताको कल्याणके पथपर पहुँचानेका प्रयत्न करना इसका उद्देश्य है।

प्रबन्ध-सम्बन्धी नियम

(१) यह हर महीनेकी कृष्णा एकादशीके लगभग प्रकाशित होता है।

(२) इसका डाकव्यय और विशेषांकसहित अग्रिम वार्षिक मूल्य भारतवर्षमें ४≥) और भारतवर्षसे बाहरके लिये ६॥=) नियत है। एक संख्याका मूल्य ।) है। बिना अग्रिम मूल्य प्राप्त हुए, पत्र प्रायः नहीं भेजा जाता। नमूना ।) मिलनेपर भेजा जाता है।

(३) एक वर्षसे कमके ग्राहक नहीं बनाये जाते। ग्राहक प्रथम अङ्कसे १२ वें अङ्कतकके ही बनाये जाते हैं। एक सालके बीचके किसी अङ्कसे दूसरी सालके उस अङ्क-तक नहीं बनाये जाते। कल्याणका वर्ष श्रावणसे आरम्भ होकर आषाढ़में समाप्त होता है।

(४) इसमें व्यवसायियोंके विज्ञापन किसी भी दरमें स्वीकारकर प्रकाशित नहीं किये जाते।

(५) कार्यालयसे 'कल्याण' दो-तीन बार जाँच करके प्रत्येक ग्राहकके नामसे भेजा जाता है। यदि किसी मासका 'कल्याण' ठीक समयपर न पहुँचे तो अपने डाकघरसे लिखा-पढ़ी करनी चाहिये। वहाँसे जो उत्तर मिले, वह अगला अङ्क निकलनेके कम-से-कम सात दिन पहलेतक कार्यालयमें पहुँच जाना चाहिये। देर होनेसे या डाकघरका जवाब शिकायती पत्रके साथ न आनेसे दूसरी प्रति बिना मूल्य मिलनेमें बड़ी अड़चन होगी।

(६) पता बदलनेकी सूचना (हिन्दी) महीनेकी कृष्ण प्रतिपदाके पहले-पहले कार्यालयमें पहुँच जानी चाहिये। **लिखते समय ग्राहक-संख्या, पुराना और नया नाम, पता साफ-साफ लिखना चाहिये।** महीने-दो-महीनोंके लिये बदलवाना हो तो अपने पोस्टमास्टरको ही लिखकर प्रबन्ध कर लेना चाहिये।

लेख-सम्बन्धी नियम

भगवद्भक्ति, भक्तचरित, ज्ञान, वैराग्यादि ईश्वरपरक, कल्याणमार्गमें सहायक, अध्यात्मविषयक, व्यक्तिगत आक्षेप-रहित लेखोंके अतिरिक्त अन्य विषयोंके लेख भेजनेका कोई सज्जन कष्ट न करें। लेखोंको घटाने-बढ़ाने और छापने अथवा न छापनेका अधिकार सम्पादकको है। अमुद्रित लेख बिना माँगे लौटाये नहीं जाते। **लेखोंमें प्रकाशित मतके लिये सम्पादक उत्तरदाता नहीं हैं।**

आवश्यक सूचनाएँ

(१) ग्राहकोंको अपना नाम-पता स्पष्ट लिखनेके साथ-साथ ग्राहक-संख्या अवश्य लिखनी चाहिये।

(२) पत्रके उत्तरके लिये जवाबी कार्ड या टिकट भेजना आवश्यक है।

(३) ग्राहकोंको चन्दा मनिआर्डरद्वारा भेजना चाहिये क्योंकि वी० पी० के रुपये प्रायः देरीसे पहुँचते हैं। कभी-कभी तो डेढ़-दो महीनोंतक नहीं मिलते। इससे निश्चय नहीं होता कि वी० पी० छूटी या नहीं। रुपये न मिलनेतक ग्राहकोंमें नाम नहीं लिखा जाता, मिलनेपर ही आगेके अङ्क भेजे जाते हैं। खर्च दोनोंमें एक ही है परन्तु पहला अत्यन्त सुविधाजनक और दूसरा असुविधाका है। जिनका रुपया आता है उन्हींको कल्याण पहले भेजा जाता है।

(४) प्रेस-विभाग और कल्याण-विभाग अलग-अलग समझकर अलग-अलग पत्र-व्यवहार करना और रुपया आदि भेजना चाहिये। कल्याणके मूल्यके साथ पुस्तकों या चित्रोंका मूल्य या अधिक पैसे नहीं भेजने चाहिये।

(५) सादी चिट्ठीमें टिकट कभी नहीं भेजना चाहिये।

(६) मनिआर्डरके कूपनपर रुपयोंकी तादाद, रुपये भेजनेका मतलब, ग्राहक-नम्बर, पूरा पता आदि सब बातें साफ-साफ लिखनी चाहिये।

(७) प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र, ग्राहक होनेकी सूचना, मनिआर्डर आदि 'व्यवस्थापक "कल्याण" गोरखपुर' के नामसे और सम्पादकसे सम्बन्ध रखनेवाले पत्रादि 'सम्पादक "कल्याण" गोरखपुर' के नामसे भेजने चाहिये।

श्रीश्रीसीताराम

प्रेमी ग्राहकोंको सूचना

इस अंकमें आपका इस सालका मूल्य समाप्त हो गया। इसके बाद अब नवें वर्षका प्रथमांक 'श्रीशक्ति-अंक' होगा, जो बहुत ही उपदेशप्रद, मनोरञ्जक और भक्ति पैदा करनेवाला होगा, यदि आपने अभी आगामी वर्षके लिये वार्षिक मूल्य नहीं भेजा हो तो कृपाकर अब मनीआर्डर-द्वारा तुरन्त ४≡) (चार रुपये तीन आने) भेज दीजिये। मनीआर्डरका फार्म ज्येष्ठके अंकके साथ आपको भेजा गया है। शक्ति-अंक और उसका परिशिष्टांक भाद्रपदका अंक दोनों साथ ही रहेंगे। दोनोंमें लगभग ६५० पृष्ठ और लगभग १५० बहुत ही सुन्दर और दुर्लभ चित्र रहेंगे। मूल्य ३) होगा। सालभरके लिये ग्राहक बननेवालोंको ४≡) में ही शक्ति-अंकके सिवा दस अंक और मिल जायँगे। १२ अंकोंके ४≡) होनेसे एक अंकके दाम।-)॥ से कुछ ऊपर होते हैं, इस हिसाबसे दस अंकोंके ३।≡) बाद देनेपर परिशिष्टांकसहित शक्ति-अंक ग्राहकोंको सिर्फ ।।।) में ही मिल जाता है। यों अलग शक्ति-अंक लेनेवालोंकी अपेक्षा ग्राहक बननेवाले सज्जनोंको २।) का फायदा रहता है। शक्ति-अंककी थोड़ी ही प्रतियाँ अधिक छप रही हैं। अतएव ग्राहकोंको बहुत जल्दी रुपये भेजकर ग्राहक बन जाना चाहिये। इस बार खुली प्रतियाँ भी शायद बहुत बिकें। इसलिये नये ग्राहकोंको तो रुपये भेजनेमें तनिक भी देर नहीं करनी चाहिये। जिनके पहलेसे रुपये आ जायँगे उनको शक्ति-अंक निकलते ही भेजा जायगा। रही-सही वी० पी० बहुत पीछे जायगी। शक्ति-अंक बहुत ही जल्दी बिक जानेकी सम्भावना है—इसलिये जल्दी ग्राहक न बननेवालोंको शक्ति-अंक मिलना मुश्किल हो जायगा। यह बात याद रखनी चाहिये।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
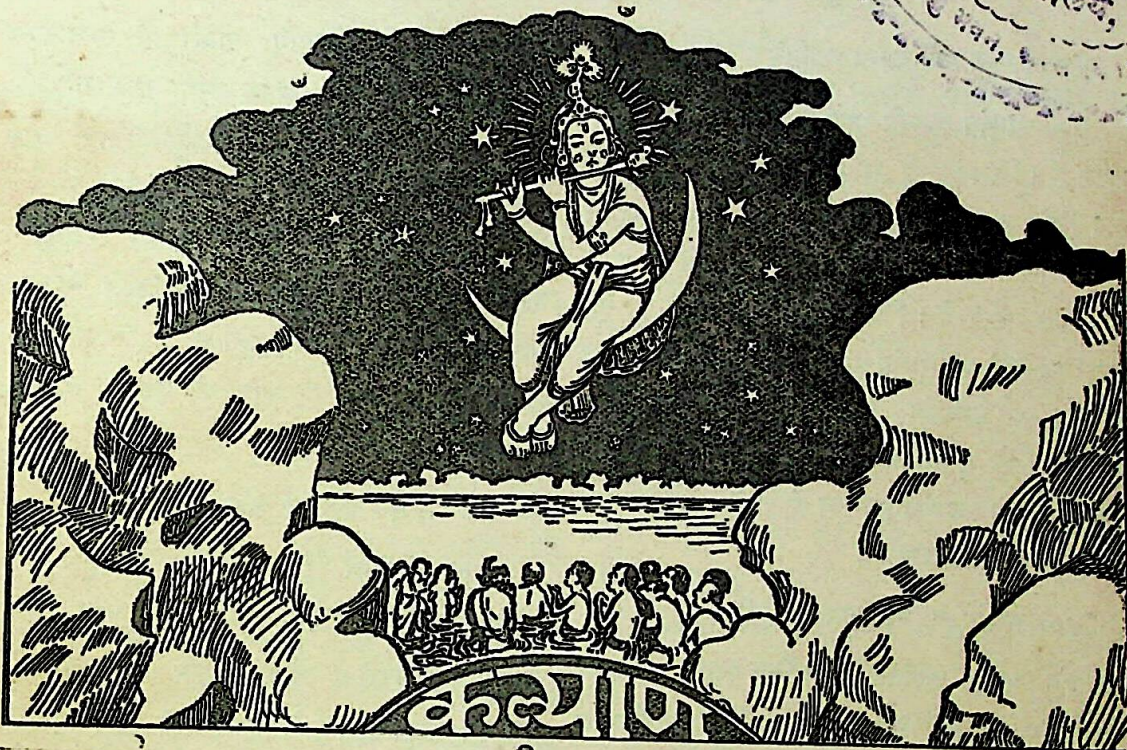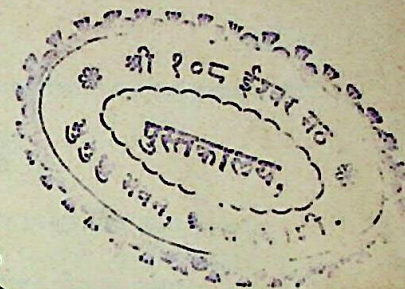
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु । मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज । अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

वर्ष ८ | गोरखपुर, आषाढ़ १९९१ जुलाई १९३४ | संख्या १२ पूर्ण संख्या ९६

भजनहीन जीवन

जो पै रहनि रामसों नाहीं ।
तौ नर खर कूकर सूकर सम बृथा जियत जग माहीं ॥
काम क्रोध मद लोभ नींद भय भूख प्यास सबहीके ।
मनुज-देह सुर-साधु सराहत सो सनेह सिय-पीके ॥
सूर सुजान सुपूत सुलच्छन गनियत गुन गरुआई ।
बिनु हरिभजन इँदारुनके फल तजत नहीं करुआई ॥
कीरति कुल करतूति भूति भलि सील सरूप सलोने ।
तुलसी प्रभु-अनुराग-रहित जस सालन साग अलोने ॥

—गो० तुलसीदासजी

पूज्यपाद श्रीउड़ियाबाबाजीके उपदेश

प्र०—सत्संग क्यों करना चाहिये ?

उ०—सत्संग करनेसे भगवत्प्राप्तिका मार्ग दिखलायी पड़ता है। जिस मार्गसे सत्पुरुष गये हैं, उनका सङ्ग किये बिना भगवत्प्राप्तिका मार्ग हमें नहीं मिल सकता। जो भगवान्के पास गये हैं, उनके पास रहे हैं वे ही मार्ग बता सकते हैं। जिनको प्राप्ति हो गयी है, ऐसे सिद्ध पुरुषोंको भी सत्संग करना चाहिये। साधकको तो प्राप्तिका मार्ग देखनेके लिये और भगवान्का स्वरूप जाननेके लिये सत्संग करना चाहिये। सिद्ध पुरुषोंको सत्संगमें अपने प्यारेका चिन्तन होता है इसलिये उन्हें भी सत्संग करना चाहिये।

प्र०—सत्संग करनेसे क्या लाभ है ?

उ०—सत्संग करनेसे दिनों-दिन हमारी भगवान्में आसक्ति बढ़ती है, जिस चीजका निरन्तर चिन्तन होगा, उसमें आसक्ति बढ़ेगी इसलिये सत्संग करना चाहिये।

प्र०—सत्संग न करनेसे क्या हानि है ?

उ०—भजन तो एकान्तमें भी कर सकते हैं परन्तु काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दोष सत्संग किये बिना दूर नहीं हो सकते। सत्संगमें इन्हींके नाशके सम्बन्धकी बातें होती हैं। इसलिये सत्संगमें जानेसे अवगुण छोड़नेकी इच्छा होती है, फिर चेष्टा करनेसे अवगुण छूटते हैं। बिना सत्संग किये बहुत भजन करनेवालोंके भी दोष प्रायः नहीं छूटते और जो सत्संग करेगा वह भजन अवश्य करेगा। सत्संग करेगा उसके पाप नहीं छूटेंगे, यह असम्भव है ? सत्संगमें एक बिजली है, उस वायुमण्डलमें बैठजाने मात्रसे ही अन्तःकरण पवित्र हो जाता है क्योंकि वहाँका वायुमण्डल ही पवित्र है, इसलिये सत्संगकी निन्दा करनेवाले भी वहाँ जाने लगनेपर पवित्र हो जाते हैं और धीरे-धीरे वे भी भगवत्परायण होते हैं। सत्संगकी महिमाका कोई वर्णन ही नहीं कर सकता। सत्संगसे महापुरुषोंमें प्रीति होगी। कुछ भी न करके केवल सत्संगमें जाकर बैठ ही जाय तो उसको भी लाभ होता है।

प्र०—सत्संग करनेका कौन अधिकारी है ?

उ०—मनुष्य ही नहीं, जीवमात्र इसके अधिकारी हैं। मुसल्मान, ईसाई, यहूदी, चाण्डाल आदि सभी सत्संग कर सकते हैं क्योंकि इसके सभी अधिकारी हैं। जब चूहे, बिल्ली, कुत्ते, तोता, पक्षी आदि भी पवित्र हो जाते हैं, तब मनुष्योंकी तो बात ही क्या है ?

प्र०—सत्संग करनेवालोंसे पाप-कर्म क्यों नहीं छूटते ?

उ०—यह बात वे ही लोग कह सकते हैं जो सत्संगमें नहीं जाते। क्योंकि पापका कितना भण्डार भरा पड़ा है, उसमें कितना कम हुआ है—यह सत्संग करनेवाला ही जान सकता है। सत्संगमें प्रतिदिन अनन्त पाप क्षीण होते हैं—यह जो लोग सत्संगमें नित्यप्रति जाते हैं उनका अनुभव है। हम चाहते हैं, जल्दी पाप नाश हो जाय, पर पापकी कमी क्रमशः होती है। इसीसे पापोंका पूरा नाश नहीं प्रतीत होता।

प्रेम और शरणागति

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

मका वास्तविक वर्णन हो नहीं सकता । प्रेम जीवनको प्रेममय बना देता है । प्रेम गूँगेका गुड़ है । प्रेमका आनन्द अवर्णनीय होता है । रोमाञ्च, अश्रुपात, प्रकम्प आदि तो उसके बाह्य लक्षण हैं, भीतरके रसप्रवाहको कोई कहे भी तो कैसे ? वह धारा तो उमड़ी हुई आती है और हृदयको आप्लावित कर डालती है । पुस्तकोंमें प्रेमियोंकी कथा पढ़ते हैं किन्तु सच्चे प्रेमीका दर्शन तो आज दुर्लभ ही है । परमात्माका सच्चा प्रेमी एक ही व्यक्ति करोड़ों जीवोंको पवित्र कर सकता है !

प्रेमी जिस मार्गसे निकल जाता है, प्रेमका प्रवाह बहा देता है, बरसते हुए मेघ जिधरसे निकलते हैं उधरकी ही धराको तर कर देते हैं । इसी प्रकार प्रेमी भी प्रेमकी वर्षासे यावत् चराचरको तर कर देता है । प्रेमीके दर्शनमात्रसे ही हृदय तर हो जाता है और लहलहा उठता है । तुलसीदासजी महाराजने कहा है—

मोरे मन प्रभु अस बिसवासा । रामते अधिक रामकर दासा ॥
रामसिंधु घन सज्जन धीरा । चंदन तरु हरि संत समीरा ॥

समुद्रसे जल लेकर मेघ उसे बरसाते हैं और वह बड़ा ही उपकारी होता है । भगवान् समुद्र हैं और सन्त मेघ । भगवान्‌से ही प्रेम लेकर सन्त संसारपर प्रेम बरसाते हैं और जिस प्रकार मेघका जल नदियों, नालोंसे होकर पृथ्वीको उर्वरा बनाते हुए समुद्रमें प्रवेश कर जाता है, ठीक उसी प्रकार सन्त भी प्रेमकी वर्षा कर अन्तमें प्रभुके प्रेमको प्रभुमें ही समर्पित कर देते हैं ।

प्रभु चन्दनके वृक्ष हैं और सन्त बयार । जिस प्रकार हवा चन्दनकी सुगन्धिको दिग्दिगन्तमें फैला देती है उसी प्रकार सन्त भी प्रभुकी दिव्य गन्धको प्रवाहित करते रहते हैं । सन्तको देखकर प्रभुकी स्मृति आती है । अतएव सन्त प्रभुके स्वरूप हैं । जैसे पपीहा और किसान तो केवल मेघके ही आश्रित हैं इसी प्रकार श्रद्धालु पुरुष भी केवल सन्तोंके ही आश्रय रहते हैं ।

प्रेमीकी वाणी, नेत्र आदिसे प्रेमकी वर्षा होती रहती है । उसका मार्ग प्रेमसे पूर्ण होता है । वह जहाँ जाता है वहाँके कण-कणमें, हवामें, धूलिमें उसके स्पर्शके कारण प्रेम-ही-प्रेम दृष्टिगोचर होता है । उसका स्पर्श ही प्रेममय होता है, स्नेहसे ओत-प्रोत होता है । जिस प्रकार कपूरकी सुगन्ध विस्तार करती हुई चलती है उसी प्रकार भक्त भी !!

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यह प्रेम कैसे प्राप्त हो ? इस सम्बन्धमें गोस्वामीजीने कहा है—

बिनु सतसंग न हरिकथा, तेहि बिनु मोह न भाग ।
मोह गये बिनु रामपद, होहि न दृढ़ अनुराग ॥

हमारा प्रेम तो काञ्चन-कामिनी, मान-प्रतिष्ठामें हो रहा है । हम तो सच्चे प्रेमके लिये हृदयमें कभी कामना ही नहीं करते । जबतक प्रेमके लिये हृदय तरस नहीं जाता, व्याकुल नहीं होता तबतक प्रेमकी प्राप्ति हो भी कैसे सकती है ? अभी तो हमारा कामी मन नारी-प्रेममें ही आनन्दकी उपलब्धि कर रहा है, अभी तो हमारा लोभी चित्त काञ्चनकी प्राप्तिमें ही पागल है । अभी तो हमारा चञ्चल चित्त मान-बड़ाईके पीछे मारा-मारा फिरता है । जबतक हमारा यह काम और लोभ सब ओरसे सिमटकर एकमात्र प्रभुके प्रति नहीं हो जाता, तबतक हम प्रभुके प्रेमको प्राप्त भी कैसे कर सकते हैं ?

प्रेमी मूक रहते हुए भी भाषण देता है । मानो उसका अङ्ग-अङ्ग बोलता है । उसके सभी अवयवोंसे मानो एक शुद्ध सङ्केत एक निर्मल ध्वनि निकलती है । प्रेमी

उपदेश देने नहीं जाता, वह क्या बोले, कैसे बोले? गोपियोंने प्रेमकी शिक्षा किसे और कब दी थी ? भरतजीने भक्तिका उपदेश कब और किसे दिया ? उनके चरित्र उपदेश देते रहे और देते रहेंगे। प्रेममें जिस अनन्यता और आत्मसमर्पणकी सराहना की गयी है उसकी सजीव मूर्ति गोपियाँ हैं। इसी प्रकार रामायणमें उसके प्राणस्वरूप प्रेम-मूर्ति श्रीभरतजी हैं।

यह हमारा शरीर ही क्षेत्र है। इस खेतमें कर्म-रूप जैसा बीज बोया जायगा वैसा ही फल उपजेगा। बीज तो परमात्माका प्रेमपूर्वक ध्यानसहित जप है। परन्तु जलके बिना यह बीज उग नहीं सकता। वह जल है हरि-कथा और हरि-कृपा। खेतमें गेहूँ बोनेसे गेहूँ, आम बोनेसे आम और राम बोनेसे राम ही निपजेगा। हम प्रेमपूर्वक भगवान्‌के ध्यान और जपका बीज बोवेंगे तो फलरूपमें हमें प्रेममय भगवान् ही मिलेंगे। प्रेममय भगवान्‌का साक्षात्कार ही इस बीजका फल है। साधारण बीज तो धूलिमें पड़कर नष्ट भी हो जाता है परन्तु निष्काम रामनामका वह अमर बीज कभी नष्ट नहीं होता। जल है हरि-कथा और हरि-कृपा, जो सन्तोंके सङ्गसे ही प्राप्त होती है। उस हरि-कथा और हरि-कृपासे ही हरिमें विशुद्ध प्रेम होता है। अतएव प्रेमकी प्राप्तिका उपाय सत्सङ्ग ही है।

प्रभुमें हमारा प्रेम कैसा हो ? श्रीरामका उदाहरण लीजिये। भगवान् श्रीराम लता-पतासे पूछते हैं—'तुमने मेरी सीताको देखा है ?' गोपियोंको देखिये, वे वन-वन 'कृष्ण' 'कृष्ण' पुकार-पुकारकर अपने हृदय-धनको खोज रही हैं; जितनी ही अधिक तीव्र उत्कण्ठा प्रेममें होती है उतना ही शीघ्र प्रेममय ईश्वर मिलते हैं।

भगवान् जल्दी-से-जल्दी कैसे मिलें—यह भाव जाग्रत् रहनेपर ही भगवान् मिलते हैं। यह लालसा उत्तरोत्तर बढ़ती चले। ऐसी उत्कट इच्छा ही प्रेम-मयके मिलनेका कारण है और प्रेमसे ही प्रभु मिलते हैं। प्रभुका रहस्य और प्रभाव जाननेसे ही प्रेम होता है। थोड़ा-सा भी प्रभुका रहस्य जाननेपर हम उसके बिना एक क्षणभर भी नहीं रह सकते।

पपीहा मेघको देखकर आतुर होकर विह्वल हो उठता है। ठीक उसी प्रकार हमें प्रभुके लिये पागल हो जाना चाहिये। हमें एक-एक पल उसके बिना असह्य हो जाना चाहिये।

मछलीका जलमें, पपीहेका मेघमें, चकोरका चन्द्रमामें जैसा प्रेम है वैसा ही हमारा प्रेम प्रभुमें हो। एक पल भी उसके बिना चैन न मिले, शान्ति न मिले। ऐसा प्रेम प्रेममय सन्तोंकी कृपासे ही प्राप्त होता है। चन्दनके वृक्षकी गन्धको लेकर वायु समस्त वृक्षोंको चन्दनमय बना देता है। बनानेवाली तो गन्ध ही है परन्तु वायुके बिना उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इसी प्रकार सन्तलोग आनन्द-मयके आनन्दकी वर्षाकर विश्वको आनन्दमय कर देते हैं, प्रेम और आनन्दके समुद्रको उमड़ा देते हैं। गौराङ्ग महाप्रभु जिस पथसे निकलते थे प्रेमका प्रवाह बहा देते थे। गोस्वामीजीकी लेखनीमें कितना अमृत भरा पड़ा है। पर ऐसे प्रेमी सन्तोंके दर्शन भी प्रभुकी पूर्ण कृपासे ही होते हैं। प्रभुकी कृपा तो सब पर पूर्ण है ही, किन्तु पात्र बिना वह कृपा फलवती नहीं होती। शरणागत भक्त ही प्रभुकी ऐसी कृपाके पात्र हैं अतएव हमें सर्वतोभावसे भगवान्‌के शरण होना चाहिये। सर्वथा उसका आश्रित बनकर रहना चाहिये। सर्व प्रकारसे उसके चरणोंमें अपनेको सौंप देना चाहिये। भगवान्‌ने कहा भी है—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥
(गीता १८। ६२)

हे भारत! सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही अनन्य शरणको प्राप्त हो। उसकी कृपासे ही परम

शान्तिको और परम सनातन परम धामको प्राप्त होगा।

मनसे, वाणीसे और कर्मसे शरण होना चाहिये। तभी सम्पूर्ण समर्पण होता है यानी उस परमेश्वरको मनसे भी पकड़ना चाहिये, वाणीसे भी पकड़ना चाहिये और कर्मसे भी पकड़ना चाहिये।

उनके किये हुए विधानोंमें प्रसन्न रहना, उनके नाम, रूप, गुण और लीलाओंका चिन्तन करना मनसे पकड़ना है। नामोच्चारण करना, गुणगान करना वाणीसे पकड़ना है। और उनकी आज्ञानुसार चलना कर्मसे यानी क्रियाओंसे पकड़ना है।

मनसे प्रभुको पकड़ना

(१) सच्चा भक्त प्रभुके प्रत्येक विधानमें दयाका दर्शन करता रहता है, प्रभु तो दया और न्यायके समुद्र हैं। परम प्रेमी और सच्चे सुहृद् तो केवल वही हैं। उनकी दयामें न्याय और न्यायमें दया ओतप्रोत है। सब कुछ प्रभुका पुरस्कार ही है। मृत्यु भी उनकी दयाका ही चिह्न है। मयूरध्वजका पुत्र कितना प्रसन्न हुआ जब उसने यह जाना कि उसको चीरकर उसका मांस श्रीकृष्णके सिंहको परसा जायगा। भक्त तो मृत्युको भी प्रभुका प्रसाद मानकर प्रेमसे गले लगाता है। वह उसे ईश्वरका भेजा हुआ पुरस्कार समझकर उसीमें आनन्द और कल्याण मानता है। प्रभु तो बहुरूपियेके रूपमें सर्वत्र सर्वदा हमारे आसपास भीतर-बाहर विचरते हैं। बहुरूपियेकी भाँति जो प्रभुके तत्त्वको जान जाता है वह सर्वत्र प्रभुकी दया-ही-दयाका दर्शन करता है।

कपड़ेकी चादरको जिस प्रकार मालिक चाहे ओढ़े, चाहे बिछावे, चाहे फाड़ दे, चाहे जला दे, चादर हर प्रकारसे तैयार है। ठीक उसी प्रकार भक्तको भी होना चाहिये। चाहे प्रभु भक्तको तारे चाहे मारे; वह जिस प्रकार चाहे रक्खे। फाड़ डाले, चाहे जला डाले—जैसे चाहे वैसे रक्खे, भक्तको तो हर क्रियामें मालिकका प्यारा हाथ देखकर सदा हर्षपूर्ण ही रहना चाहिये।

हम तो प्रभुके हाथकी केवल कठपुतली हों। वह चाहे जैसा नाच नचावे। मालिककी इच्छामें ही प्रसन्न रहना हमारा परम धर्म है।

इस प्रकार शरण चले जानेपर सभी विधानोंमें आनन्द-ही-आनन्द मिलने लगता है। प्राणाधारकी लात खानेमें एक अपूर्व मिठास है। उसमें प्यारसे भी अधिक मिठास है, दिलबरकी जूतियोंमें भी एक अपूर्व रस है।

(२) दीवालपर या हृदयपर या प्रभुकी मूर्तिपर मनसे प्रभुके नामको लिखकर चिन्तन करना या मनसे जप करना प्रभुके नामका चिन्तन है।

(३) सच्चिदानन्दरूपसे परमेश्वरका सर्वत्र आकाशकी भाँति नित्य-निरन्तर चिन्तन करना, निराकार स्वरूपका चिन्तन करना है। वह विज्ञानानन्दघन परमात्मा ही अपनी योगमायासे तेजोमय दिव्य विग्रहको देवता, मनुष्य आदिकी आकृतिमें धारण करते हैं—ऐसा समझकर उनकी दिव्य माधुरी मूर्तिका चिन्तन करना प्रभुके साकार स्वरूपका चिन्तन करना है। जैसे निर्मल आकाशमें परमाणुरूपसे एवं बादल, बूँद और ओलेंके रूपमें रहनेवाले जलको जो जल समझता है वही जलके सारे तत्त्वको जाननेवाला है। वैसे ही निराकार और साकार मिलकर ही प्रभुका समग्र रूप होता है। इसी तत्त्वको भगवान्ने गीताके ७ वें अध्यायमें विस्तारसे बतलाया है। इस रहस्यको समझकर ही प्रभुका चिन्तन करना असली चिन्तन करना है।

(४) प्रभु सारे सात्त्विक गुणोंके समुद्र हैं। उनमें क्षमा, दया, शान्ति, समता, सरलता, उदारता, पवित्रता अपरिमित हैं। वे ज्ञान, वैराग्य, तेज और ऐश्वर्यसे पूर्ण हैं। सारे संसारके जीवोंमें जो दया

दीखती है वह सब मिलकर दयासागरकी दयाके एक बूँदके समान नहीं है ।

सारे संसारका तेज और ज्ञान इकट्ठा किया जाय तो भी उस तेजोमय ज्ञानस्वरूप परमात्माके तेजके एक अंशके बराबर भी नहीं हो सकता । इसी प्रकार उनके सारे गुणोंकी आलोचना करना उनके गुणोंका चिन्तन करना है ।

(५) प्रभुने दशरथके यहाँ मनुष्य-आकृतिमें प्रकट होकर भाइयोंके साथ नीति और प्रेमका व्यवहार करके नीति और प्रेमकी शिक्षा दी । माता-पिताकी आज्ञाका पालन करके सेवाभाव सिखलाया । दुष्टोंको दण्ड देकर ऋषि, मुनि और साधुओंका उद्धार किया । बड़े त्याग और सुहृदताके साथ प्रजाका पालन किया । यज्ञ, दान, तप, सेवा, व्रत, सत्य, ब्रह्मचर्यादि सदाचारोंको चरितार्थ करके हमलोगोंको दिखलाया। इस प्रकार उनके पवित्र चरित्रोंका अवलोकन करना उनकी लीलाओंका चिन्तन करना है ।

वाणीसे प्रभुको पकड़ना

प्रभुके नाम एवं मन्त्रका जाप, प्रभुके गुण और स्तोत्रोंका पठन-पाठन, उनके नाम और गुणोंका कीर्तन, प्रभुके नाम, रूप, गुण, प्रेम और प्रभावका विस्तारपूर्वक उनके भक्तोंमें वर्णन करना, परस्पर भगवत्-विषयक ही चर्चा करना, विनयपूर्वक सत्य और प्रिय वचन बोलना इत्यादि जो प्रभुके अनुकूल वाणीका व्यवहार करना है वह वाणीद्वारा प्रभुको पकड़ना है ।

कर्मसे प्रभुको पकड़ना

प्रभुकी इच्छा एवं आज्ञानुसार निःस्वार्थभावसे केवल प्रभुके ही लिये कर्तव्यकर्मोंका आचरण करना । जैसे पतिव्रता स्त्री पतिके लिये ही पतिकी आज्ञानुसार ही काम करती है वैसे ही प्रभुकी आज्ञाके अनुसार चलना ।

बन्दर अपने प्रभुको प्रसन्न करनेके लिये जैसा नाच वह नचावे वैसा ही नाचता है । बाजीगरको खुश करनेके लिये ही बन्दर नाचता है, कूदता है, खेलता है और कुतूहल करता है । हम भी तो अपने 'बाजीगर' के हाथके बन्दर ही हैं, फिर वह जिस प्रकार प्रसन्न हो वही नाच हमें प्रिय होना चाहिये । फूल तो वही जो चतुर-चिन्तामणिके चरणोंपर चढ़े, जीवन तो वही जो प्रभुके चरणोंमें चढ़ जाय !

सर्वत्र ईश्वरका दर्शन करते हुए यज्ञ, दान, तप, ब्रह्मचर्य आदि उत्तम कर्मोंका आचरण करना एवं सब भूतोंके हितमें रत होकर सबके साथ विनय और प्रेमपूर्वक व्यवहार करना कर्मोंके द्वारा प्रभुको पकड़ना है ।

याद रखिये, उसकी शरणमें चले जानेपर अहित भी 'हित' बन जाता है—

> गरल सुधासम अरि हित होई ।

शरणमें जाकर यदि मर जाय तो वह मरण भी मुक्तिसे बढ़कर है । प्रभु कहते हैं—

> जे करे आमार आस, ताँर करि सर्वनाश ।
> तबु जे छाँड़े ना आस, ताँरे हई दासेर दास ॥

अर्थात् 'जो मेरी आशा करता है मैं उसका सर्वनाश कर देता हूँ, इसपर भी जो आशा नहीं छोड़ता उसका मैं दासानुदास बन जाता हूँ ।'

उपर्युक्त प्रकारसे शरण होनेपर वह प्रभुकी कृपाका सच्चा पात्र बन जाता है और प्रभुकी कृपासे ही उसे विशुद्ध प्रेमकी प्राप्ति हो जाती है तथा उसको परमात्माका साक्षात् दर्शन होकर परमानन्द एवं परम शान्तिकी प्राप्ति हो जाती है ।

अतएव हमलोगोंको संसारके सारे पदार्थोंको लात मारकर प्रभुकी शरणमें जाना चाहिये। ऋद्धि-सिद्धि, मान-प्रतिष्ठा तथा देवताओंकी प्रशंसा आदिसे भी वृत्तियाँ हटा लेनी चाहिये। यह अपार संसार एक अथाह सागर है। इसके पार जानेके दो ही साधन हैं—नावसे जाना अथवा तैरकर जाना। नाव प्रभुका प्रेम है और तैरना है सांख्ययोग यानी ज्ञान। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि तैरनेकी अपेक्षा नावमें जाना सुगम, निश्चित और सुरक्षित है।

प्रेमरूपी नौकाकी प्राप्तिके लिये प्रभुकी शरण जाना चाहिये। तैरनेके लिये तो हिम्मत और त्यागकी आवश्यकता है। तैरनेमें हाथ और पैरसे लहरें चीरते हुए आगे बढ़ा जाता है। संसार-सागरमें विषयरूपी जलको हाथ और पैरसे फेंकते हुए हम तैर जा सकते हैं—उस पार जानेका लक्ष्य न भूलें और लहरोंमें हाथ-पैर न लिपटें। तैरनेके समय शरीरपर कुछ भी बोझ न होना चाहिये। इसी प्रकार विषयोंकी लहरोंको चीरकर आगे बढ़नेके लिये हमारे भीतर तीव्र और दृढ़ वैराग्यरूपी उत्साहका होना अपरिहार्य है। इसके बिना तो एक हाथ भी बढ़ना असम्भव है। हाथोंसे लहरें चीरता जाय, पैरोंसे जल फेंकता जाय।

सच्चे आत्मसमर्पणमें तो विषयासक्तिका त्याग अनिवार्य है ही। विषयोंमें प्रेम भी हो और समर्पण भी हो यह सम्भव नहीं।

काञ्चन-कामिनीसे भी अधिक मीठी छुरी मान-बड़ाई है। इसने तो बहुत ही बड़े-बड़े साधकोंको फँसा दिया, रोक दिया और अन्ततोगत्वा डुबा दिया। इससे सदा बचे रहना चाहिये।

इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि ज्ञानसे तैरनेकी अपेक्षा प्रेममयी नित्य-नवीन नौकामें जाना सुखप्रद, सहज और आनन्ददायक है।

वह विशुद्ध प्रेम प्रभुकी अनन्य शरण होनेसे ही प्राप्त होता है, अतएव अनन्य शरण होकर जाना ही नौकासे जाना है। संसार-सागरको तो हर दशामें लाँघना ही पड़ेगा। 'उस पार' गये बिना तो प्राण-वल्लभकी झाँकी होनेकी नहीं। फिर क्यों न उसीकी शरणमें जाकर उसीके हाथका सहारा बनकर चले चलें। भगवान्‌ने स्वयं प्रतिज्ञा भी की है—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥
(गीता १२। ६-७)

'हे अर्जुन! जो मेरे परायण हुए भक्तजन, सम्पूर्ण कर्मोंको मेरेमें अर्पण करके, मुझ सगुणरूप परमेश्वरको ही तैलधाराके सदृश अनन्य ध्यानयोगसे निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं, उन मेरेमें चित्तको लगानेवाले प्रेमी भक्तोंका, मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार-समुद्रसे उद्धार करनेवाला होता हूँ। यह संसार-समुद्र बड़ा ही दुस्तर है, इससे तरनेका सहज उपाय भगवान्‌की शरण ही है। भगवान्‌ने कहा भी है कि—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥
(गीता ७। १४)

'यह अलौकिक अर्थात् अति अद्भुत त्रिगुणमयी मेरी योगमाया बड़ी दुस्तर है। परन्तु जो पुरुष मुझको ही निरन्तर भजते हैं वे इस मायाको उल्लंघन कर जाते हैं अर्थात् संसारसे तर जाते हैं।'

अतएव हमलोगोंको मनसा, वाचा, कर्मणा सब प्रकार भगवान्‌की अनन्य शरण* होना चाहिये।

* अनन्ययोगसे उपासना, अव्यभिचारिणी भक्ति एवं अनन्यशरण—यह तीनों एक ही हैं।

गीत

(लेखिका—श्रीमती महादेवीजी वर्मा एम० ए०)

बताता जा रे अभिमानी !
कन कन उर्वर करते लोचन ;
स्पंदन भर देता सूनापन ;
जगका धन मेरा दुख निर्धन ;
तेरे वैभवकी भिक्षुक या
कहलाऊँ रानी !
बताता जा रे अभिमानी !

दीपक-सा जलता अन्तस्तल ;
संचितकर आँसूके । बादल ;
लिपटा है इससे प्रलयानिल ;
क्या यह दीप जलेगा तुझसे
भर हिमका पानी !
बताता जा रे अभिमानी !

चाहा था तुझमें मिटना भर ;
दे डाला बनना मिट-मिट कर ;
यह अभिशाप दिया है या वर ;
पहली मिलन-कथा हूँ या मैं—
चिर विरह कहानी !
बताता जा रे अभिमानी !

अनुरोध !

(लेखिका—'चकोरी')

तुम खेल खेलते हो अनेक
बन कभी कृष्ण, बन कभी राम,
उन श्याम अगोचर चरणोंमें
है बार-बार मेरा प्रणाम ।

कहते हैं सब हे परमपुरुष !
ब्रह्मांड तुम्हारी माया है
यह किस स्वरूपकी हे अदृश्य !
उत्पन्न अलौकिक छाया है ।

उन उमड़ी श्याम घटाओंमें
विद्युत बनकर आ जाते हो,
उन विकसित सुमनावलियोंमें
सौरभ बनकर छा जाते हो !

हो यद्यपि तुम जलमें थलमें
पर इतनेसे संतोष नहीं,
यदि एक बार दर्शन दे दो
तो इतनेमें है दोष नहीं ।

हे सर्वव्याप्त ! क्यों छिपते हो, आओ श्रद्धांजलि तो ले लो !
इन अपने रचे खिलौनोंसे तुम आँखमिचौनी मत खेलो !!

प्रेम-दर्शन

(देवर्षि नारदरचित भक्तिसूत्र)

[भक्तराजशिरोमणि देवर्षि नारदजीके भक्तिसूत्र प्रसिद्ध हैं। छः दर्शनोंकी भाँति यह प्रेम-दर्शन है। इसमें भगवत्प्रेमका स्वरूप, उसकी महत्ता, प्राप्तिपथके विघ्न, विघ्ननाशके उपाय, साधन, प्रेमियोंके मधुर भाव आदिका बड़ा ही सुन्दर उपदेश है। कल्याणके पाठकोंकी सेवामें व्याख्यासहित यह अनुपम रत्न क्रमशः समर्पण किया जाता है। —सम्पादक]

प्रेमका स्वरूप

अथातो भक्तिं व्याख्यास्यामः ॥१॥

१–अब हम भक्तिकी व्याख्या करेंगे।

इस सूत्रके 'अथ' और 'अतः' शब्दसे यह प्रतीत होता है कि भक्तिमार्गके आचार्य परम भक्तशिरोमणि, सर्वभूतहितमें रत, दयानिधि देवर्षि नारदजी अन्यान्य सिद्धान्तोंकी व्याख्या तो कर चुके,अब जीवोंके कल्याणार्थ परम कल्याणमयी भक्तिके स्वरूप और साधनोंकी व्याख्या आरम्भ करते हैं। नारदजी कहते हैं—

सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा ॥२॥

२–वह (भक्ति) ईश्वरके प्रति परम प्रेमरूपा है।

भक्तिके अनेक प्रकार बतलाये गये हैं, परन्तु नारदजी जिस भक्तिकी व्याख्या करते हैं वह प्रेमस्वरूपा है। भगवान्‌में अनन्य प्रेम हो जाना ही भक्ति है। ज्ञान, कर्म आदि साधनोंके आश्रयसे रहित सब ओरसे स्पृहाशून्य होकर जब केवल भगवान्‌में ही चित्तवृत्ति अनन्य भावसे लग जाती है, जगत्‌के समस्त पदार्थोंसे तथा परलोकको समस्त सुख-सामग्रियोंसे यहाँतक कि मोक्ष-सुखसे भी चित्त हटकर एकमात्र अपने परम प्रेमास्पद भगवान्‌में लगा रहता है, सारी ममता और आसक्ति सब पदार्थोंसे सर्वथा निकलकर एकमात्र प्रियतम भगवान्‌के प्रति हो जाती है, तब उस स्थितिको अनन्य प्रेम कहते हैं।

अमृतस्वरूपा च ॥३॥

३–और अमृतस्वरूपा (भी) है।

भगवान्‌में अनन्य प्रेम ही वास्तवमें अमृत है; वह सबसे अधिक मधुर है और जिसको यह प्रेमामृत मिल जाता है वह उसे पानकर अमर हो जाता है। लौकिक वासना ही मृत्यु है। अनन्य प्रेमी भक्तके हृदयमें भगवत्प्रेमकी एक नित्य नवीन, पवित्र वासनाके अतिरिक्त दूसरी कोई वासना रह ही नहीं जाती। इसी परम दुर्लभ वासनाके कारण वह भगवान्‌की मुनिमनहारिणी लीलाका एक साधन बनकर कर्मबन्धनयुक्त जन्म-मृत्युके चक्रसे सर्वथा छूट जाता है। वह सदा भगवान्‌के समीप निवास करता है और भगवान् उसके समीप। प्रेमी भक्त और प्रेमास्पद भगवान्‌का यह नित्य अटल संयोग ही वास्तविक अमरत्व है। इसीसे भक्तजन मुक्ति न चाहकर भक्ति चाहते हैं।

> अस बिचारि हरि भगत सयाने।
> मुकुति निरादरि भगति लुभाने॥

यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति ॥४॥

४–जिसको (परम प्रेमरूपा और अमृतरूपा भक्तिको) पाकर मनुष्य सिद्ध हो जाता है, अमर हो जाता है (और) तृप्त हो जाता है।

जिसने भगवत्-प्रेमामृतका पान कर लिया, वही सिद्ध है। 'सिद्ध' शब्दसे यहाँ अणिमादि सिद्धियोंसे अभिप्राय नहीं है। प्रेमी भक्त इन सिद्धियोंकी तो बात

ही क्या है, मोक्षरूप सिद्धि भी नहीं चाहता । ये सिद्धियाँ तो ऐसे प्रेमी भक्तकी सेवाके लिये अवसर ढूँढ़ा करती हैं परन्तु वह भगवत्प्रेमके सामने अत्यन्त तुच्छ समझकर इनको स्वीकार ही नहीं करता । स्वयं भगवान् कहते हैं—

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम् ।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत् ॥
(श्रीमद्भा० ११ । १४ । १४)

मुझमें चित्त लगाये रखनेवाले मेरे प्रेमी भक्त मुझको छोड़कर ब्रह्माका पद, इन्द्रका पद, चक्रवर्ती राज्य, लोकान्तरोंका आधिपत्य, योगकी सब सिद्धियाँ और सायुज्य मोक्ष आदि कुछ भी नहीं चाहते ।

एक भक्त कहते हैं—

रोमाञ्चेन चमत्कृता तनुरियं भक्त्या मनो नन्दितं
प्रेमाश्रूणि विभूषयन्ति वदनं कण्ठं गिरो गद्गदाः ।
नास्माकं क्षणमात्रमध्यवसरः कृष्णार्चनं कुर्वतां
मुक्तिर्द्वारि चतुर्विधापि किमियं दास्याय लोलायते ॥
(बोधसार)

प्रियतम श्रीकृष्णकी पूजा करते समय शरीर पुलकित हो गया, भक्तिसे मन प्रफुल्लित हो गया । प्रेमके आँसुओं-ने मुखको और गद्गद वाणीने कण्ठको सुशोभित कर दिया । अब तो हमें एक क्षणके लिये भी समय नहीं है कि हम किसी दूसरे विषयको स्वीकार करें । इतने-पर सायुज्य आदि चारों प्रकारकी मुक्ति हमारे दरवाजे-पर खड़ी हमारी दासी बननेके लिये आतुर हो रही हैं ।

भक्त यदि मुक्ति और भुक्तिको स्वीकार कर लें तो वे अपना परम सौभाग्य मानती हैं परन्तु भक्त ऐसा नहीं करते ।

हरिभक्तिमहादेव्याः सर्वा मुक्त्यादिसिद्धयः ।
भुक्तयश्चाद्भुतास्तस्याश्चेटिकावदनुव्रताः ॥
(नारदपाञ्चरात्र)

मुक्ति और भुक्ति आदि विलक्षण सिद्धियाँ दासीकी भाँति हरिभक्ति महादेवीकी सेवामें लगी रहती हैं ।

कागभुशुण्डिजी महाराज कहते हैं—

जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई ।
कोटि भाँति कोउ करय उपाई ॥
तथा मोच्छ-सुख सुनु खगराई ।
रहि न सकइ हरिभगति बिहाई ॥

इसलिये यहाँ सिद्धिका अर्थ 'कृतकृत्यता' लेना चाहिये । भक्तको किसी वस्तुके अभावका बोध नहीं रहता । वह प्रियतम भगवान्के प्रेमको पाकर सर्वथा पूर्णकाम हो जाता है । यह पूर्ण कामना ही उसका अमर होना है । जबतक मनुष्य कृतकृत्य या पूर्णकाम नहीं होता, तबतक उसे बारम्बार आना-जाना पड़ता है । पूर्ण-काम भक्त सृष्टि और संहार दोनोंमें भगवान्की लीला-का प्रत्यक्ष अनुभव कर मृत्युको खेल समझता है । वास्तवमें उसके लिये मृत्युकी ही मृत्यु हो जाती है । प्रभु-लीलाके सिवा मृत्युसंज्ञक कोई भयावनी वस्तु उसके ज्ञानमें रह ही नहीं जाती और इसलिये वह तृप्त होता है । जबतक जगत्के पदार्थोंकी ईश्वर-लीलासे अलग कोई सत्ता रहती है तभीतक उनको सुख या दुःखप्रद समझकर मनुष्य निरन्तर नये-नये सुखप्रद पदार्थोंकी इच्छा करता हुआ अतृप्त रहता है । जब सबका मूल स्रोत, सबका यथार्थ पूर्ण स्वरूप उसे मिल जाता है तब उन खण्ड और अपूर्ण पदार्थोंकी ओर उसका मन ही नहीं जाता । वह पूर्णको पाकर तृप्त हो जाता है ।

यत्प्राप्य न किञ्चिद्वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति ॥५॥

५—जिसके (प्रेमस्वरूपा भक्तिके) प्राप्त होनेपर

मनुष्य न किसी भी वस्तुकी इच्छा करता है, न शोक करता है, न द्वेष करता है और न किसी वस्तुमें आसक्त होता है, और न उसे उत्साह होता है।

वह प्रेमी भक्त उस परम वस्तुको पा लेता है, जिसके पानेपर सारी इच्छाएँ नष्ट हो जाती हैं। जगत्के प्रेम, ऐश्वर्य, सौन्दर्य, बल, यश, ज्ञान, वैराग्य आदि समस्त पदार्थ, जिनके लिये भोगी और त्यागी सभी मनुष्य अपनी-अपनी रुचिके अनुसार सदा ललचाते रहते हैं, भगवत्प्रेमरूपी दुर्लभ पदार्थके सामने अत्यन्त तुच्छ हैं। विश्वभरमें फैले हुए उपर्युक्त समस्त पदार्थोंको एक स्थानपर एकत्रित किया जाय तो भी वे सब मिलकर जिस भगवान्‌रूपी समुद्रके एक जलकणके समान ही होते हैं वे भगवान् स्वयं जिस प्रेमके आकर्षणसे सदा खिंचे रहते हैं उस प्रेमके सामने संसारके पदार्थ किस गिनतीमें हैं।

श्रीशुकदेव मुनि कहते हैं—

यस्य भक्तिर्भगवति हरौ निःश्रेयसेश्वरे।
विक्रीडतोऽमृताम्भोधौ किं क्षुद्रैः खातकोदकैः॥
(श्रीमद्भा० ६। १२। २२)

प्रेमामृतसमुद्रमें डूबा हुआ भक्त क्यों अन्य पदार्थोंकी इच्छा करने लगा ?

जैसे भक्त भोग, मोक्ष आदिकी इच्छा नहीं करता, वैसे ही इनके नष्ट हो जानेका शोक भी नहीं करता। भोगोंके नाशको तो वह परमात्माकी लीला समझता है, इससे सदा आनन्दमें ही रहता है। परन्तु भगवत्प्रेमके सेवनमें यदि सायुज्य मोक्षके साधनमें कमी आती है तो वह उसके लिये भी शोक नहीं करता, वरं सदा यही चाहता है कि मेरा भगवत्प्रेम बढ़ता रहे, चाहे जन्म कितने ही क्यों न धारण करने पड़ें।

चहौं न सुगति सुमति संपति कछु
रिधि-सिधि विपुल बड़ाई।
हेतुरहित अनुराग रामपद
बढ़ु अनुदिन अधिकाई॥

इसी प्रकार वह किसी जीवसे या लौकिक दृष्टिसे प्रतिकूल माने जानेवाले पदार्थ या स्थितिसे कभी द्वेष नहीं करता। वह सब जीवोंमें अपने प्रभुको और सब पदार्थों और स्थितिमें प्रभुकी लीलाको देख-देखकर क्षण-क्षणमें आनन्दित होता है।

निज प्रभुमय देखहिं जगत का सन करहिं बिरोध॥

भक्तका मन सदा प्रभु-प्रेममें ऐसा तल्लीन हो जाता है, कि आधे क्षणभरके लिये भी अन्य किसी पदार्थमें नहीं रमता। गोपियाँ उद्धवजीसे कहती हैं—

ऊधो मन न भये दस बीस।
एक हुतौ सो गयो स्याम सँग, को आराधै ईस॥

मन अपने पास रहता ही नहीं, तब वह दूसरेमें कैसे रमे ? इसीलिये तो प्रेमियोंमें भगवान्‌का नाम 'मनचोर' है—

मधुकर स्याम हमारे चोर।
मन हर लियो माधुरी मूरति, निरख नयनकी कोर॥

वे प्रेमी भक्तके चित्तको ऐसी चातुरीसे चुराकर अपनी सम्पत्ति बना लेते हैं कि उसपर दूसरेकी कभी नजर भी नहीं पड़ सकती। दूसरा कोई दीखे तब न कहीं उसमें आसक्ति या प्रीति हो, परन्तु जहाँ मनमें दूसरेकी कल्पनातकको स्थान नहीं मिलता वहाँ किसमें कैसे आसक्ति या रति हो। प्रेममयी गोपियोंने कहा है—

स्याम तन स्याम मन स्याम है हमारो धन,
आठों जाम ऊधो हमें स्याम ही सों काम है।
स्याम हिये स्याम जिये स्याम बिनु नाहिं तिये,
आँधेकी-सी लाकरी अधार स्याम नाम है॥

स्याम गति स्याम मति स्याम ही है प्रानपति,
स्याम सुखदाईसों भलाई सोभाधाम है।
ऊधो तुम भये बौरे पाती लैके आए दौरे,
जोग कहाँ राखैं यहाँ रोम-रोम स्याम है॥

जब एक प्रियतम श्रीकृष्णको छोड़कर दूसरेका मनमें प्रवेश ही निषिद्ध है तब दूसरे किसीकी प्राप्तिके लिये उत्साह तो हो ही कैसे ? कोई किसीको देखे, सुने, उसके लिये मनमें इच्छा उत्पन्न हो तब न उसके लिये प्रयत्न किया जाय ? मन किसीमें रमे, तब न उसे पानेके लिये उत्साह हो। मन तो पहलेसे ही किसी एकका हो गया; उसने मनपर अपना पूरा अधिकार जमा लिया, और स्वयं उसमें आकर सदाके लिये बस गया। दूसरे किसीके लिये कोई गुंजाइश ही नहीं रह गयी; यदि कोई आता भी है तो उसे दूरसे ही लौट जाना पड़ता है! क्या करे, जगह ही नहीं रही।

रोम रोम हरि रमि रहे, रही न तनिकौ ठौर।

नेत्र बेचारे मनकी अनुमति बिना किसको देखें ? जब कोई कहीं दीखता ही नहीं, तब उसको पानेके लिये उत्साहकी बात ही नहीं रह जाती।

दूसरी बात यह है कि उत्साह होता है मनुष्यको किसी सुखकी इच्छासे। जब समस्त सुखोंका खजाना ही अपने पास है तब क्षुद्र सुखके लिये उत्साह कैसे हो ? इसलिये प्रेमोत्साहके पुतले भगवत्प्रेमी पुरुषोंमें लौकिक कार्योंके प्रति—विषयोंके प्रति कोई भी उत्साह नहीं देखा जाता।

भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः॥
(श्रीमद्भगवद्गीता १२। १७)

'जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है, न कामना करता है तथा जो शुभ, अशुभ सबका त्यागी है वह भक्तिमान् पुरुष मुझको प्रिय है।'

यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति स्तब्धो भवति आत्मारामो भवति॥६॥

६—जिसको (परम प्रेमरूपा भक्तिको) जान (प्राप्त) कर मनुष्य उन्मत्त हो जाता है, स्तब्ध (शान्त) हो जाता है, (और) आत्माराम बन जाता है।

भगवत्-प्रेम प्रकट होते ही मनुष्यको पागल कर देता है, अतः प्रेमी भक्त सदा प्रेमके नशेमें चूर हुआ दिन-रात प्रभुके ही गुण गाता, सुनता और चिन्तन करता रहता है। बाहरकी दूसरी बातोंका उसे होश ही नहीं रहता। जैसे पागल मनमानी बकता और करता है, इसी प्रकार वह प्रेमोन्मत्त भी प्रभुकी चर्चामें ही तल्लीन रहता है, क्योंकि उसके मनको यही अच्छा लगता है। भागवतमें कहा है—

शृण्वन् सुभद्राणि रथाङ्गपाणे-
र्जन्मानि कर्माणि च यानि लोके।
गीतानि नामानि तदर्थकानि
गायन्विलज्जो विचरेदसङ्गः॥
एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या
जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
हसत्यथो रोदिति रौति गाय-
त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः॥
(११। २। ३९-४०)

भक्त चक्रपाणि भगवान्‌के लोकप्रसिद्ध जन्म, कर्म और गुणोंको सुनता हुआ, उनकी विचित्र लीलाओंके अनुसार रक्खे गये नामोंको लज्जा छोड़कर गान करता हुआ संसारमें अनासक्त हुआ विचरता है। इस प्रकारका व्रत धारणकर वह अपने प्रियतम प्रभुके नाम-संकीर्तनमें प्रेम हो जानेके कारण उन्मत्तके समान कभी अलौकिक भावसे खिलखिलाकर हँसता

है, कभी रोता है, कभी चिल्लाता है, कभी ऊँचे स्वरसे गाने लगता है और कभी नाच उठता है।

यों उन्मत्तकी तरह आचरण करता हुआ प्रेमी आनन्दमें भरकर कभी चुप हो जाता है। शान्त होकर बैठ जाता है। यह स्तब्धता उसकी पूर्णकामताका परिचय देती है। प्रभुकी मूर्ति हृदयमें प्रकट हो गयी, रूपमाधुरीमें आनन्दमत्त होकर भक्त ध्यानमग्न हो गया।

सुतीक्ष्णकी दशा बताते हुए गोसाईंजी कहते हैं—

मुनि मगमाँहि अचल है बैसा। पुलक शरीर पनसफल जैसा॥

नृत्य करते-करते प्रभुमय बन जानेपर ऐसी ही अवस्था हुआ करती है। उसका चित्त और शरीर सर्वथा स्तब्ध—शान्त हो जाता है। आत्मा आनन्दमय बन जाता है। इसीको आत्माराम कहते हैं। इस आत्मारामस्थितिमें विषयतृष्णा तो कहीं रह ही नहीं जाती।—

नहि स्वात्मारामं विषयमृगतृष्णा भ्रमयति॥

अन्य किसीका भी ज्ञान नहीं रहता। यही प्रेमाद्वैत या रसाद्वैत है। प्रियतमके साथ मिलकर प्रेमीका पृथक् अस्तित्व ही लोप हो जाता है।

प्रेममें अनन्यता

सा न कामयमाना निरोधरूपत्वात् ॥७॥

७—वह (प्रेमाभक्ति) कामनायुक्त नहीं है क्योंकि वह निरोधस्वरूपा है।

यह प्रेमाभक्ति सर्वथा त्यागरूप है, इसमें धन, सन्तान, कीर्ति, स्वर्ग आदिकी तो बात ही क्या है, मोक्षकी भी कामना नहीं रह सकती। जिस भक्तिके बदलेमें कुछ माँगा जाता है या कुछ प्राप्त होनेकी आशा या आकांक्षा है वह भक्ति कामनायुक्त है, वह स्वार्थका व्यापार है। प्रेमाभक्तिमें तो भक्त अपने प्रियतम भगवान् और उनकी सेवाको छोड़कर और कुछ चाहता ही नहीं। श्रीमद्भागवतमें भगवान् कपिलदेव कहते हैं कि 'मेरे प्रेमी भक्तगण मेरी सेवा छोड़कर सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य (इन पाँच प्रकारकी *) मुक्तियोंको देनेपर भी नहीं लेते।' यथार्थ भक्तिके उदय होनेपर कामनाएँ नष्ट हो ही जाती हैं। क्योंकि वह भक्ति निरोधस्वरूपा यानी त्यागमयी है। वह निरोध क्या है?

निरोधस्तु लोकवेदव्यापारन्यासः ॥८॥

८—लौकिक और वैदिक (समस्त) कर्मोंके त्यागको निरोध कहते हैं।

प्रेमाभक्तिमें यह कर्मत्याग अपने आप ही हो जाता है, प्रेममें मतवाला भक्त अपने प्रियतम भगवान्को छोड़कर अन्य किसी बातको जानता नहीं, उसका मन सदा श्रीकृष्णाकार बना रहता है, उसकी आँखोंके सामने सदा सर्वत्र प्रियतम भगवान्की छवि ही रहती है। दूसरी वस्तुमें उसका मन ही नहीं जाता। श्रीगोपियोंने भगवान्से कहा था—

चित्तं सुखेन भवताऽपहृतं गृहेषु
यन्निर्विशत्युत करावपि गृह्यकृत्ये।
पादौ पदं न चलतस्तव पादमूला-
द्यामः कथं व्रजमथो करवाम किं वा॥
(श्रीमद्भा० १०।२९।३४)

'हे प्रियतम! हमारा चित्त आनन्दसे घरके कामोंमें आसक्त हो रहा था, उसे तुमने चुरा लिया। हमारे

---

* पाँच प्रकारकी मुक्तियाँ ये हैं—
सालोक्य—भगवान्के समान लोकप्राप्ति।
सार्ष्टि—भगवान्के समान ऐश्वर्यप्राप्ति।
सामीप्य—भगवान्के समीप स्थानप्राप्ति।
सारूप्य—भगवान्के समान स्वरूपप्राप्ति।
सायुज्य—भगवान्में लयप्राप्ति।

हाथ घरके कामोंमें लगे थे, वे भी चेष्टाहीन हो गये और हमारे पैर भी तुम्हारे पादपद्मोंको छोड़कर एक पग भी हटना नहीं चाहते। अब हम घर कैसे जायँ और जाकर करें भी क्या ?'

जगत्का चित्र चित्तसे मिट जानेके कारण वह भक्त किसी भी लौकिक (स्मार्त) और वैदिक (श्रौत) कार्यके करने लायक नहीं होता। इससे वे सब स्वयमेव छूट जाते हैं। सुन्दरदासजी ऐसे प्रेमी भक्तकी दशाका वर्णन करते हुए कहते हैं—

न लाज तीन लोककी, न वेदको कह्यौ करै।
न संक भूत-प्रेतकी, न देव जच्छते डरै॥
सुने न कान और की द्रसै न और इच्छना।
कहै न बात और की सु-भक्ति प्रेम लच्छना॥

कबहुँक हँसि उठि नृत्य करै रोवन फिर लागै।
कबहुँक गद-गद कंठ, सबद निकसैं नहिं आगै॥
कबहुँक हृदै उमंग बहुत ऊँचे सुर गावै।
कबहुँक ह्वै मुख मौन, गगन जैसो रहि जावै॥

चित्त बित्त हरिसौं लग्यो सावधान कैसे रहै।
यह प्रेमलच्छना भक्ति है शिष्य सुनो 'सुन्दर' कहै॥

तस्मिन्ननन्यता तद्विरोधिषूदासीनता च ।९।

९–उस प्रियतम भगवान्में अनन्यता और उसके प्रतिकूल विषयमें उदासीनताको भी निरोध कहते हैं।

बाहरी ज्ञान बना रहनेकी स्थितिमें भी प्रेमी भक्त अपने प्रियतमके प्रति अनन्य भाव रखता हुआ उसके प्रतिकूल कार्योंसे सर्वथा उदासीन रहता है। इस प्रकार सावधानीसे होनेवाले कर्म भी निरोध कहलाते हैं। प्रेमी भक्तके द्वारा होनेवाली प्रत्येक चेष्टा अपने प्रियतमके अनुकूल होती है और अनन्य भावसे उसीकी सेवाके लिये होती है। प्रतिकूल चेष्टा तो उसके द्वारा वैसे ही नहीं होती जैसे सूर्यके द्वारा कहीं अँधेरा नहीं होता या अमृतके द्वारा मृत्यु नहीं हो सकती।

अन्याश्रयाणां त्यागोऽनन्यता ॥१०॥

१०–(अपने प्रियतम भगवान्को छोड़कर) दूसरे आश्रयोंके त्यागका नाम अनन्यता है।

प्रेमी भक्तके मनमें अपने प्रियतम भगवान्के सिवा अन्य किसीके होनेकी ही कल्पना नहीं होती, तब वह दूसरेका भजन कैसे करे ? वह तो चराचर विश्वको अपने प्रियतमका शरीर जानता है, उसे कहीं दूसरा दीखता ही नहीं—

उत्तमके अस बस मन माहीं। सपनेहु आन पुरुष जग नाहीं॥

रहीम कहते हैं कि आँखोंमें प्यारेकी मधुर छवि ऐसी समा रही है कि दूसरी किसी छविके लिये स्थान ही नहीं रह गया।

प्रीतम-छबि नैनन बसी, पर छबि कहाँ समाय।
भरी सराय 'रहीम' लखि, आप पथिक फिरि जाय॥

गोपियोंकी सर्वत्र श्याममयी चित्तवृत्तिका वर्णन करते हुए श्रीदेवकविने कहा है—

औचक अगाध सिंधु स्याहीकौ उमड़ि आयो,
तामें तीनौं लोक बूड़ि गये एक संगमें।
कारे-कारे आखर लिखे जु कारे कागद सु-
न्यारे करि बाँचै कौन जाँचै चितभंगमें॥
आँखिनमें तिमिर अमावसकी रैन जिमि,
जंबूनद बुंद जमुना-जल-तरंगमें।
यों ही मन मेरो मेरे कामकौ न रह्यो माई,
स्याम रँग ह्वै करि समानो स्याम रंगमें॥

यदि कोई उससे दूसरेकी बात कहता है तो वह उसे सुनना ही नहीं चाहता या उसे सुनायी ही नहीं पड़ती। यदि कहीं जबरदस्ती सुननी पड़ती भी है तो उसका मन उधर आकर्षित होता ही नहीं। शिवजीकी अनन्योपासिका पार्वतीजीको सप्तर्षियोंने महादेवजीके अनेक दोष बतलाकर उनसे मन हटाने और सर्व-सद्गुणसम्पन्न भगवान् विष्णुमें मन लगानेको कहा, तब शिवप्रेमकी मूर्ति भगवतीने उत्तर दिया—

जनम कोटि लगि रगर हमारी। बरौं संभु न तु रहौं कुँआरी॥
महादेव औगुनभवन, बिस्नु सकल गुनधाम।
जेहिकर मन रम जाहिसन, तेहि तेहीसन काम॥

इसी तरह गोपियोंने भी उद्धवजीसे कहा था—

ऊधो ! मन मानेकी बात।
दाख छोहारा छाँड़ि अमृत फल बिषकीरा विष खात॥
जो चकोरको दे कपूर कोउ तजि, अंगार अघात।
मधुप करत घर कोरे काठमें बँधत कमलके पात॥
ज्यों पतंग हित जानि आपनो, दीपकसों लपटात।
'सूरदास' जाको मन जासों ताको सोइ सुहात॥

इस प्रकार प्रेमी भक्त एकमात्र अपने प्रियतम भगवान्‌को ही जानकर, उसीको सर्वस्व मानकर, जैसे मछलीको केवल जलका आश्रय होता है वैसे ही केवल भगवान्‌का ही आश्रय लेकर, सारी चेष्टाएँ उसीके लिये करता है।

एक भरोसो एक बल, एक आस बिस्वास।
एक राम रघुनाथ हित, चातक 'तुलसीदास'॥

वह चातककी टेककी भाँति केवल भगवान्‌में ही चित्त लगाये, सम्पूर्णरूपसे उसीपर निर्भर करता हुआ, उसीके लिये शरीर धारण करता है। उसका खाना-पीना, सोना-बैठना, चलना-फिरना, देना-लेना, दान-पुण्य करना, सब कुछ उसीके लिये होता है। अतएव उसके समस्त कर्म भगवान्‌के प्रति अनन्य प्रेमभावसे सम्पन्न होनेके कारण स्वाभाविक ही कल्याणमय होते हैं।

लोके वेदेषु तदनुकूलाचरणं तद्विरोधिषूदासीनता ॥११॥

११—लौकिक और वैदिक कर्मोंमें भगवान्‌के अनुकूल कर्म करना ही उसके प्रतिकूल विषयमें उदासीनता है।

अनन्य भावसे भगवदर्थ कर्म करनेवालेके लिये भगवान्‌के प्रतिकूल कर्मोंका अपने आप ही त्याग हो जाता है। वैदिक या लौकिक (श्रौत या स्मार्त) कोई भी कर्म वह ऐसा नहीं कर सकता जो भगवान्‌के अनुकूल न हो यानी जिससे प्रेमभक्तिकी वृद्धिमें सहायता न पहुँचती हो।

पुत्रके लिये मातापिताकी, स्त्रीके लिये स्वामीकी और शिष्यके लिये गुरुकी आज्ञा मानना वेद और लोक-धर्मके अनुसार सर्वथा कर्त्तव्य है परन्तु उनकी आज्ञा भी यदि भगवत्-प्रेमसे विरुद्ध है तो प्रेमी भक्त कष्ट सहकर भी उसका त्याग कर देता है, क्योंकि उसके लिये अपने प्यारेसे प्रतिकूलाचरण होना असम्भव है।

गोस्वामीजी महाराजने उदाहरण देते हुए कहा है—

जाके प्रिय न राम बैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरीसम यद्यपि परम सनेही॥
पिता तज्यो प्रह्लाद, बिभीषण बंधु, भरत महतारी।
बलि गुरु तज्यो, कंत ब्रजबनितनि, भये जग मंगलकारी॥

प्रह्लादने भगवान्‌के प्रतिकूल पिताकी आज्ञा नहीं मानी, विभीषणने भाईका साथ छोड़ दिया, भरत-जी माताकी आज्ञाको टाल गये, राजा बलिने गुरु शुक्राचार्यकी बात नहीं सुनी और ब्रजवनिताओंने पतियों-की आज्ञापर ध्यान नहीं दिया और ये सभी जगत्‌के लिये कल्याणकारी हुए।

कर्म चार प्रकारके होते हैं—नित्य, नैमित्तिक, काम्य और निषिद्ध। इनमें मद्य-मांस-सेवन, चोरी, व्यभिचार आदि निषिद्ध कर्म तो सभीके लिये त्याज्य हैं। शास्त्रीय काम्य (सकाम) कर्म बन्धनकारक तथा जन्म-मृत्युके चक्रमें डालनेवाले होनेके कारण 'काम्यानां कर्मणां न्यासम्' इस भगवत्-वचनानुसार त्याज्य हैं। रहे नित्य और नैमित्तिक कर्म, इनको लौकिक और वैदिक विधिके अनुसार फलासक्ति छोड़कर केवल भगवान्‌की आज्ञानुसार भगवत्प्रीत्यर्थ करना चाहिये।

भगवत्-प्रीत्यर्थ वही कर्म होते हैं जो भगवान्‌के प्रति प्रेम बढ़ानेवाले हों। गीताके अनुसार आसक्ति और फलाशा छोड़कर मन, वाणी और शरीरसे भगवान्‌के अनुकूल कर्म करना और प्रतिकूल कर्मोंका त्याग करना ही विरोधी कर्मोंमें उदासीनता है। प्रेमाभक्तिकी उन्मादमयी स्थिति प्राप्त न होनेतक ऐसे भगवदनुकूल कर्म प्रेमी भक्तके द्वारा स्वाभाविक हुआ ही करते हैं।

भवतु निश्चयदार्ढ्यादूर्ध्वं शास्त्ररक्षणम् १२

१२–(लौकिक और वैदिक कर्म भगवान्‌के सर्वथा अनुकूल करनेका मनमें) निश्चय हो जानेके बाद भी शास्त्रकी रक्षा करनी चाहिये।

प्रेमकी बाह्यज्ञानशून्य प्रमत्तावस्थामें लौकिक और वैदिक कर्मोंका त्याग अपने आप ही हो जाता है, जान-बूझकर किया नहीं जाता।

इसलिये जबतक प्रेमकी, वैसी सब कुछ भुला देनेवाली स्थिति प्राप्त न हो जाय, तबतक प्रेमके नामपर शास्त्रविहित कर्मोंका त्याग कभी नहीं करना चाहिये। शास्त्रके अनुसार भगवान्‌के अर्पणबुद्धिसे भगवदनुकूल नित्य-नैमित्तिक कर्म और श्रवण-कीर्तनादिरूप भजन करते-करते ही भगवान्‌का वह परमोच्च प्रेम प्राप्त होता है। भगवान् स्वयं आज्ञा करते हैं—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥
(गीता १६। २४)

अतः तुम्हारे लिये क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये इसकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है, यह जानकर तुम्हें शास्त्रविधिके अनुसार ही कर्म करना चाहिये।

अन्यथा पातित्याशङ्कया॥१३॥

१३–नहीं तो गिर जानेकी सम्भावना है।

जो मनुष्य जान-बूझकर शास्त्रोंकी आज्ञाका पालन न करके शास्त्रके प्रतिकूल अमर्यादित कार्य करता है और उसे प्रेमका नाम देकर दोषमुक्त होना चाहता है, वह अवश्य ही गिर जाता है। भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥
(गीता १६। २३)

जो मनुष्य शास्त्रकी विधिको छोड़कर मनमाना स्वेच्छाचार करता है वह न सिद्धि पाता है, न परम गति पाता है और न उसे सुखकी ही प्राप्ति होती है। जान-बूझकर शास्त्रविहित कर्मोंका त्याग करना प्रेमका आदर्श नहीं है, मोह है, उच्छृङ्खलता और स्वेच्छाचार है। ऐसा करनेवाला परिणाममें आसुरी योनि, नरक और दुःखोंको ही प्राप्त होता है।

लोकोऽपि तावदेव किन्तु भोजनादिव्यापारस्त्वाशरीरधारणावधि ॥१४॥

१४–लौकिक कर्मोंको भी (बाह्यज्ञान रहनेतक विधिपूर्वक करना चाहिये।) पर भोजनादि कार्य जबतक शरीर रहेगा तबतक होते रहेंगे।

वैदिक कर्मके साथ ही लौकिक जीविका, गृहस्थ-पालन आदिके कार्य भी सावधानीके साथ भगवदनुकूल विधिके अनुसार करने चाहिये। अवश्य ही एक ऐसी स्थिति होती है जिसमें वैदिक, लौकिक कार्य अनायास ही छूट जाते हैं, परन्तु उस स्थितिके प्राप्त होनेतक दोनों प्रकारके कर्म विधिवत् अवश्य करने चाहिये। फिर तो आप ही छूट जायँगे। परन्तु आहारादि कर्म उस अवस्थामें भी रहेंगे। कारण, वे शरीरके लिये आवश्यक हैं। यद्यपि प्रेमके नशेमें चूर भक्त आहारादिके लिये न तो कोई इच्छा करता है और न चेष्टा ही करता है परन्तु आहारादि प्राप्त होनेपर अभ्यासवश अनायास ही उसके द्वारा आहार कर लिया जाता है। अवश्य ही वह भी भगवत्प्रसाद ही होता है। (क्रमशः)

श्रीहरिः

'कल्याण' का

अज्ञान, अभिमान, आलस्य, प्रमाद, संशय, शोक और विषादको हरनेवाला

तथा

शान्ति, सुख, सौभाग्य, प्रेम, ज्ञान और परम आनन्दको देनेवाला

अति मनोहर

शक्ति-अङ्क

ग्राहक बनाइये

बहुत ही अनोखी और कठिनतासे मिलनेवाली सामग्रियोंसे पूर्ण होकर निकलनेवाला है।

ग्राहकोंको चाहिये

वार्षिक मूल्य तुरन्त मनीआर्डरसे भेज दें

(मनीआर्डर-फार्म सबको मिल ही चुके हैं)

सच्चिदानन्दरूपा महामहिमामयी भगवतीकी इच्छा और प्रेरणासे 'शक्ति-अङ्क' बहुत ही उपयोगी और सुन्दर बन रहा है।

इस अङ्कमें क्या-क्या रहेगा ?

(१) श्रीशक्तिके विविध स्वरूपोंका वर्णन।
(२) श्रीशक्तिके परमतत्त्वका निरूपण।
(३) श्रीशक्तिकी लीलाओंका वर्णन।
(४) श्रीशक्ति, श्रीविष्णु, श्रीशिव आदिमें अभेदका सप्रमाण प्रतिपादन।
(५) श्रीशक्ति-उपासनाके सार्वभौम होनेका वर्णन।
(६) श्रीशक्ति-सम्बन्धी तन्त्रका वर्णन।
(७) श्रीयन्त्र, षट्चक्र, कुण्डलिनी आदि गुप्त एवं दुर्लभ विषयोंका सचित्र वर्णन।
(८) श्रीशक्तिपीठोंका सचित्र वर्णन।
(९) श्रीशक्ति-भक्तोंके चित्र-चरित्र।
(१०) श्रीशक्ति-कृपासे घटनेवाली विचित्र सत्य घटनाओंका वर्णन।
(११) श्रीशक्ति-सम्बन्धी साहित्यका वर्णन।
(१२) दश महाविद्या-तत्त्व, श्रीराधा-तत्त्व, श्रीसीता-तत्त्व, श्रीलक्ष्मी-तत्त्व, श्रीसरस्वती-तत्त्व, श्रीकाली-तत्त्व, श्रीजगद्धात्री-तत्त्व, श्रीगायत्री-तत्त्व आदि।
(१३) दश महाविद्या, नव दुर्गा, महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती, श्रीराधा-कृष्ण, श्रीगौरी-शंकर, श्रीसीताराम, श्रीलक्ष्मीनारायण, श्रीसावित्री-प्रजापति तथा सप्तशतीके और महान् पतिव्रता देवियोंके सुन्दर रङ्गीन चित्र रहेंगे। (इस बार बढ़िया रङ्गीन चित्र पिछले सब विशेषाङ्कोंसे ज्यादा और सभी सुन्दर होंगे।)
(१४) श्रीशक्तिरूपोंकी उपासना-पद्धति।
(१५) श्रीशक्तिपीठोंका नक्शा।
(१६) दुर्लभ मन्त्र और यन्त्र।

शक्ति-अङ्कके लेखकोंमें बहुत बड़े-बड़े सन्त-महात्मा विद्वान् और अनुभवी सज्जन हैं। चित्र भी सभी शास्त्रीय होंगे, जो शाक्त, वैष्णव, शैव सभी साधकों और भक्तोंके ध्यान करनेके लिये बड़े ही उपयोगी होंगे। लेख बहुत ही अधिक आ गये, इससे पृष्ठ-संख्या बढ़ा दी गयी है, परिशिष्टाङ्कसहित ६५० के लगभग पृष्ठ होंगे। इसपर भी सैकड़ों लेख विना छपे रखने पड़ेंगे।

परिशिष्टांक (भाद्रपदकी संख्या) सहित मूल्य ३) (डाकमहसूलसहित) है। पुराने-नये ग्राहकोंको वार्षिक मूल्य ४≋) बहुत शीघ्र मनीआर्डरसे भेज देना चाहिये।

श्रीशक्ति-अङ्क (श्रावणकी संख्या) और परिशिष्टाङ्क (भाद्रपदकी संख्या) अलग-अलग नहीं मिलेंगे। दोनों साथ ही ३) में मिलेंगे। अभी शक्ति-अङ्कमें बहुत काम होनेसे उसके जन्माष्टमीतक निकलनेकी आशा है। शक्ति-अङ्क सजिल्द मँगानेवालोंको निकलनेके पश्चात् एक महीनेतक धैर्य रखना चाहिये। सजिल्द तैयार होनेपर उनकी सेवामें भेजा जायगा, इस बीचमें पत्र लिखनेका कष्ट न उठावें। जिनको ग्राहक न रहना हो, वे सज्जन कृपा करके एक कार्ड लिखकर सूचना दे ।

शक्ति-अङ्कके कुछ लेखकोंके नाम

इस अङ्कमें जिन महानुभावोंके लेख या उपदेश छपे हैं या छपनेकी सम्भावना है, उनमेंसे कुछके नाम ये हैं—

जगद्गुरु स्वामी श्रीशङ्कराचार्यजी, जगद्गुरु स्वामी श्रीअनन्ताचार्यजी, सर्वस्वामीजी श्रीउड़ियास्वामीजी, श्रीभोलेबाबाजी, श्रीजयेन्द्रपुरीजी, श्रीतपोवनजी, श्रीदयानन्दजी, श्रीएकरसानन्दजी, श्रीअभेदानन्दजी, पं० श्रीरामवल्लभाशरणजी, श्रीअरविन्द, सर जान उडरफ, बाबू भगवानदासजी, स्वामी श्रीहरनामदासजी, महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथजी कविराज एम० ए०, महामहोपाध्याय डा० गंगानाथजी झा, श्रीसाहेबजी महाराज दयालबाग, आचार्य पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी, महामहोपाध्याय पं० प्रमथनाथ तर्कभूषण, पं० पञ्चानन तर्करत्न, महामहोपाध्याय पं० गिरधरजी शर्मा, पं० मोतीलालजी शर्मा, महामहोपाध्याय पं० हाथीभाईजी शास्त्री, पं० श्रीभवानीशङ्करजी, श्रीमध्वाचार्य गोस्वामी दामोदरजी शास्त्री, गोस्वामी बालकृष्णजी आचार्य, पं० भूपेन्द्रनाथ सान्याल, पं० रामदयाल मजूमदार एम० ए०, देवर्षि पं० रमानाथजी शास्त्री, श्रीजयरामदासजी 'दीन', पं० पद्मनाथ भट्टाचार्य एम० ए०, पं० नारायण शास्त्री खोस्ते, पं० ललताप्रसादजी डबराल, श्रीसूर्यनारायण शास्त्री एम० ए०, श्रीरामचन्द्र दीक्षितार एम० ए०, श्रीरामस्वामी शास्त्री, डा० विनयतोष भट्टाचार्य एम० ए०, श्रीसाखरे महाराज, पं० लक्ष्मण रामचन्द्र पाङ्गारकर, श्रीरामदासजी गौड़ एम० ए०, श्रीवेंकट सुब्बा एम० ए०, पं० मथुरानाथजी भट्ट, पं० लक्ष्मणनारायणजी गर्दे, पं० नरदेवजी शास्त्री, पं० हरिदत्तजी शास्त्री, डा० हीरानन्दजी शास्त्री एम० ए०, पं० सकलनारायणजी शर्मा, पं० सीतारामजी शास्त्री विद्यामार्तण्ड, तान्त्रिक स्वामी तारानन्दतीर्थजी, श्रीनलिनीमोहन सान्याल एम० ए०, रायबहादुर लाला सीतारामजी बी० ए०, श्रीटकी महाराज, ब्रह्मचारी गोपालचैतन्यदेवजी, श्रीकृष्णलालजी भगवानजी, पं० बालकृष्णजी मिश्र, बाबू सम्पूर्णानन्दजी, म० बालकरामजी विनायक, श्रीरामचन्द्र कृष्ण कामत, श्रीजयदयालजी गोयन्दका, श्रीज्वालाप्रसादजी कानोड़िया, श्रीदेवराजजी विद्यावाचस्पति, तान्त्रिक पं० विदुरदत्तजी शर्मा आदि-आदि।

व्यवस्थापक—कल्याण, गोरखपुर

अंगरेजी कल्याण-कल्पतरु

अंगरेजी कल्याण-कल्पतरुके लिये भी ग्राहक बनिये, बनाइये। आप प्रेमियोंकी निःस्वार्थ सहायतासे ही कल्याण-कल्पतरु फल-फूल सकता है।

ब्रह्मविद्या-रहस्य

(अनुवादक तथा लेखक—श्रीनृसिंहदासजी वर्मा)

(गताङ्कसे आगे)

यह बात विद्वानोंको विदित ही है कि यह विषय पूर्वमीमांसाका है। मीमांसकोंने, जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, वेद, स्मृति और आचारको प्रमाण माना है। यहाँतक वेद और स्मृतियोंके सम्बन्धमें तो हम कुछ लिख चुके। अब आगे कुछ आचार-प्रमाण भी उपस्थित करते हैं।

जिन वेदान्त-प्रेमियोंने श्रीयोगवासिष्ठका स्वाध्याय किया है उनको भलीभाँति विदित होगा कि जिस समय सायङ्काल हो जाता था श्रीवसिष्ठजी भगवान् रामचन्द्रजीसे कह देते थे—'हे रामजी! आजका प्रकरण यहीं छोड़ते हैं क्योंकि सायङ्काल हो गया है। अब सन्ध्याका समय है; आओ, सन्ध्या करें।' इससे क्या यह बात सिद्ध नहीं होती कि वेदान्तके वास्तविक तत्त्वको जाननेवाले ही नहीं, वरं वेदान्तके अधिष्ठाता, उत्तर-रामायणके वक्ता वसिष्ठ-जैसे ब्रह्मनिष्ठ महर्षिश्रेष्ठ भी वेदविहित कर्मोंका पूर्ण श्रद्धासे पालन करते थे। तभी उन्हें वेदके सारभूत आत्मतत्त्वकी उपलब्धि होती थी। कहा भी है—'श्रद्धामयोऽयं पुरुषः' क्या आजकलके केवल ग्रन्थ पढ़कर प्रक्रियामात्र जाननेवाले हम-जैसे वाचिक वेदान्ती उन ब्रह्मर्षि आचार्योंसे भी बड़े हैं जो तुरन्त ही मर्यादाका अतिक्रमण कर कर्म और उपासनाको तिलाञ्जलि दे बैठते हैं। यदि इस बहिर्मुखता, कर्मत्याग, सन्मार्गोल्लङ्घन और शास्त्राज्ञातिवर्तनका नाम ही ज्ञान है तो ऐसा ज्ञान पशु-पक्षियोंको तो स्वभावसे ही प्राप्त है, फिर हममें और उनमें अन्तर ही क्या हुआ ?

आहारनिद्राभयमैथुनञ्च
सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्।
(हितोपदेश)

श्रीविद्यारण्यस्वामीने अपनी पञ्चदशीमें श्रीसुरेश्वराचार्यकृत नैष्कर्म्यसिद्धिका एक बड़ा सुन्दर श्लोक उद्धृत किया है—

बुद्धाद्वैतसतत्त्वस्य यथेष्टाचरणं यदि।
शुनां तत्त्वदृशां चैव को भेदोऽशुचिभक्षणे॥

इस प्रकार पूर्व और उत्तर दोनों रामायणोंमें मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामका वेदविहित कर्मोंको नियत समयपर करते रहनेका विधान पाया जाता है। इससे बढ़कर और क्या आचार-प्रमाण हो सकता है कि जगन्नाट्य-सूत्रधर भगवान् स्वयं भी अवतार लेकर लोक-संग्रहके लिये कर्म करते रहे हैं। इस सदाचारके विषयमें वसिष्ठजीने अपनी स्मृतिमें भी लिखा है—

आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः
यद्यप्यधीताः सह षड्भिरङ्गैः।
छन्दांस्येनं मृत्युकाले त्यजन्ति
नीडं शकुन्ता इव तापतप्ताः॥

इसी प्रकार अद्वैत-सिद्धान्तके प्रवर्तक श्रीयाज्ञवल्क्यजीने भी कभी इस कर्म-मार्गका उल्लङ्घन नहीं किया। इसमें उनकी स्मृतिके अतिरिक्त एक दूसरा छोटा-सा ग्रन्थ योगियाज्ञवल्क्य-संहिता भी प्रमाण है। यहाँ उससे कुछ प्रमाण उद्धृत करते हैं—

वर्णाश्रमोक्तं सर्वत्र विध्युक्तं कामवर्जितम्।
विधिवत्कुर्वतस्तस्य मुक्तिर्गोर्गिं करे स्थिता॥
(१।२४)

संसारभीरुभिस्तस्माद्विध्युक्तं कामवर्जितम्।
विधिवत्कर्म कर्त्तव्यं सह ज्ञानेन सर्वदा॥
(१।२६)

शङ्कर, रामानुज और निम्बार्कादि आचार्योंके सम्बन्धमें तो यह कहनेकी आवश्यकता ही नहीं कि वे कर्म और उपासना-मार्गके कितने पक्षपाती थे, क्योंकि उनका तो अवतार ही केवल वेदोक्त कर्म और उपासना-मार्गके स्थापन करनेके लिये हुआ था। जिस समय बौद्धोंने वैदिक मतावलम्बियोंको वैदिक पथसे विचलित करनेके लिये एँड़ीसे चोटीतक जोर लगाना आरम्भ कर दिया और वे 'त्रयो वेदस्य कर्तारः धूर्तभण्डनिशाचराः' कह-कहकर वेदोंका अपमान करने लगे, तब वैदिक पद्धतिकी रक्षाके लिये साक्षात् श्रीमहादेवजी शङ्कराचार्यरूपसे अवतीर्ण हुए। फिर जिस समय मनुष्य बहुधा नास्तिक, भक्तिहीन, सकाम-कर्मपरायण, भूत-पिशाच, डाकिनी-शाकिनी आदिकी सिद्धिमें प्रवृत्त और उत्पथगामी हो गये तथा यह कहने लगे

कि 'भस्मीभूतशरीरस्य पुनरागमनं कुतः', 'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्', उस समय शेषावतार श्रीरामानुजस्वामी तथा सुदर्शनावतार श्रीनिम्बार्कादि चार आचार्योंका आविर्भाव हुआ। ये आचार्य महानुभाव तो शास्त्रोक्त कर्ममर्यादाकी स्थापनाके लिये ही अवतीर्ण हुए थे। अतः इनके विषयमें आचार-प्रमाण-सम्बन्धी विचार करना केवल पिष्टपेषणमात्र है। अद्वैत-मत-प्रवर्तक भगवान् शङ्करस्वामी अपने सारे वेदान्त-ग्रन्थोंमें पहले अपने-अपने वर्णाश्रमोचित वेद-विहित कर्मोंको स्थान देकर ही आगे चलते हैं—यह बात सभीको विदित है। इसके सिवा वेदान्तका कर्मसे इसलिये भी घनिष्ठ सम्बन्ध है कि यह कर्मका फल अर्थात् उसकी परिपाकावस्थाका रूपान्तर ही है। इसीलिये कर्म-सम्बन्धी शास्त्रको पूर्व-मीमांसा और वेदान्तको उत्तर-मीमांसा भी कहते हैं। इसपर भी यदि कोई ज्ञानाभिमानी कर्मका विरोध करे तो उसका शासन यमराजके सिवा और कौन कर सकता है?

श्रीगीताजीमें तो कर्मका वर्णन ऐसी सुन्दरता और विलक्षणतासे किया गया है कि उसकी तुलनाका मिलना ही असम्भव है। श्रीगीताजी कहती हैं—

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥
(५।१०)

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
(५।१२)

कर्मण्येवाधिकारस्ते
(२।४७)

कर्मणैव हि संसिद्धिम्
(३।२०)

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
(१८।५)

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि
(३।१५)

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥
(३।१९)

स्वधर्मे निधनं श्रेयः
श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः
(३।३५)

मत्कर्मकृन्मत्परमः
(११।५५)

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
(३।५)

वर्त एव च कर्मणि
(३।२२)

ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥
(१६।२४)

कर्मकी सिद्धिके लिये इससे अधिक प्रबल प्रमाण और क्या दिये जा सकते हैं। इसलिये साधारण लोगोंकी तो बात ही क्या है, आत्मवेत्ता पुरुष भी देहानुसन्धान रहनेतक अपने लिये नहीं, वरं लोक-संग्रहके लिये ही वेदविहित कर्म किया करते हैं। क्योंकि—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
(गीता ३।२१)

इस प्रकार पूर्वमीमांसामें कहे हुए वेद, स्मृति और आचार तीनों प्रमाणोंसे द्विजके लिये आयुपर्यन्त विहित कर्माचरणकी अवश्यकर्तव्यता सिद्ध होती है। इसपर भी यदि कोई मनमानी करनेवाला द्विज इस कल्याण-मार्गमें अरुचि ही प्रकट करे तो इसके सिवा कि उसका प्रारब्ध मन्द है और क्या कहा जा सकता है? भगवान् मनुने कहा है—

अकुर्वन् विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन्।
प्रसक्तश्चेन्द्रियार्थेषु प्रायश्चित्तीयते नरः॥
(मनु० ११।४४)

तैत्तिरीय भाष्यवार्तिकमें भी श्रीसुरेश्वराचार्यजीने कहा है—

नित्यानामक्रिया यस्माल्लक्षयित्वैव सत्वरा।
प्रत्यवायक्रिया तस्माल्लक्षणार्थे शता भवेद्॥

इससे यही बात सिद्ध हुई कि जबतक देहाध्यास रहे, (चाहे सारी आयु बीत जाय) तबतक द्विजको वेदविहित वर्णाश्रम-धर्ममें तत्पर रहकर ही यथावत् कर्म करते हुए कालक्षेप करना चाहिये। जीवनाभिलाषी मनुष्यके लिये यही युक्त और कल्याणकारी मार्ग है।

यहाँतक कल्याण-कामियोंके हितके लिये दूसरे मन्त्रके प्रथम पाद 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' इत्यादिके भाष्यरहस्यरूप महासागरके तात्पर्यका निरूपण किया गया। अब इसके द्वितीय पादका संक्षिप्तार्थ लिखकर हम इसका भाष्यानुवाद समाप्त करते हैं।

एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

वेदभगवान् आज्ञा करते हैं कि कल्याण चाहनेवालों-के लिये केवल दो ही मार्ग हितकर हैं। एक निवृत्ति यानी संन्यास और दूसरा प्रवृत्ति यानी कर्म-मार्ग। अथवा यों कहिये कि इनमें पहलेका नाम श्रेय-मार्ग है और दूसरेका सात्त्विक प्रेय-मार्ग। कोई अत्यन्त भाग्यशाली महानुभाव ही जिन्होंने अपने अनेकों पूर्वजन्मोंमें उच्चकोटिकी उपासना और विहित कर्म किये होते हैं वे ही इस श्रुत्युक्त संन्यास-मार्गपर अग्रसर हो सकते हैं। परन्तु जिनके मनमें पुत्र, कलत्र, द्रव्य और जीवनेच्छा आदि तरह-तरहकी वासनाएँ बनी हुई हैं उनके लिये तो कर्म-मार्ग ही अन्तःकरणकी शुद्धिद्वारा परम कल्याणका देनेवाला होता है। इन दो मार्गोंके अतिरिक्त तीसरा और कोई मार्ग नहीं है।

यदि एकदेशी पूर्वपक्षी यह शङ्का करे कि पूर्व मन्त्रने जिसके लिये ज्ञानका विधान किया है उसीके लिये दूसरे मन्त्रने कर्मकी आज्ञा दी है, अतः दोनों मन्त्रोंका तात्पर्य एक ही मनुष्यद्वारा समुच्चयरूपसे कर्म और ज्ञानका अनुष्ठान कराना है, तो इसका उत्तर यह है कि इन मन्त्रोंमें विशिष्टका भेद होनेसे अधिकारियोंका भी भेद है। ज्ञानमें त्यक्तैषणात्रयत्वरूप विशेषण है; अर्थात् जो मनुष्य एषणात्रयके पूर्ण त्यागरूप अन्तःकरणकी वृत्तिसे विशिष्ट है वही ज्ञानका अधिकारी है और जो पुत्र, कलत्र, धन, धाम एवं जीवनेच्छा आदि अन्तःकरणकी सकाम वृत्तिसे विशिष्ट है वह कर्मका अधिकारी है। विशेषण भिन्न होनेके कारण विशिष्टमें भी भेद है। ज्ञानीका विशेषण पूर्ण त्याग है और अज्ञानीका सांसारिक विषयोंमें राग एवं जीवनेच्छा आदि। इस प्रकार निवृत्ति-मार्गरूप ज्ञानका अधिकारी अत्यन्त विरक्त पुरुष ही हो सकता है; जो पुरुष रागी, जीवनेच्छु एवं अपक्वकषाय है उसे तो कर्म-मार्गका ही अधिकार है, इन दोनों पक्षोंका इस प्रकार सर्वथा विरोध होते हुए इनका समुच्चयरूपसे एक ही पुरुषको किस प्रकार अधिकार हो सकता है? इससे एकदेशीके पक्षका खण्डन हो जाता है। इसके सिवा कर्तृत्वादि अध्यासके आश्रय रहनेवाले कर्मका शुद्धत्व-अकर्तृत्व-ज्ञानद्वारा उपमर्दन हो जाता है। अतः कर्म और ज्ञानका समुच्चय नहीं हो सकता।

यतिको यज्ञादि कर्मोंका अनधिकार इसलिये भी है कि कर्म द्रव्यसाध्य होते हैं और उसे शास्त्रने सर्वथा निष्किञ्चन रहनेकी आज्ञा दी है। वह कर्मानुष्ठानके लिये द्रव्य कहाँसे लायगा? क्योंकि उसे तो मधुकरीके अतिरिक्त और भिक्षा करनेका भी अधिकार नहीं है। वह केवल उदरपूर्तिके लिये पाँच प्रकारकी भिक्षा ही कर सकता है। ऐसा करनेसे ही उसे प्रतिग्रह नहीं लगता। उन पाँच प्रकारकी भिक्षाओंका विवरण इस प्रकार है—

माधुकर्यमसंक्लृप्तं प्राक्प्रणीतमयाचितम्।
तात्कालिकं चोपपन्नं भैक्ष्यं पञ्चविधं स्मृतम्॥
मनःसङ्कल्परहितान् गृहांस्त्रीन् पञ्च सप्त वा।
मधुवद्धरणं यत्तन्माधुकर्यमिति स्मृतम्॥
शयनोत्थापनात्प्राग्यत्प्रार्थितं भक्तिसंयुतैः।
तत्प्राक्प्रणीतमित्याह भगवानुशना मुनिः॥
भिक्षाटनसमुद्योगात्प्राक्केनापि निमन्त्रितम्।
अयाचितं तु तद्भैक्ष्यं भोक्तव्यं मनुरब्रवीत्॥
उपस्थानेन यत्प्रोक्तं भिक्षार्थं ब्राह्मणेन हि।
तात्कालिकमिति ख्यातं तदत्तव्यं मुमुक्षुणा॥
सिद्धमन्नं भक्तजनैरानीतं यन्मठं प्रति।
उपपन्नं तदित्याहुर्मुनयो मोक्षकाङ्क्षिणः॥
भिक्षाः पञ्चविधा ह्येताः सोमपानसमाः स्मृताः।
तासामेकतमा यापि वर्तयन्सिद्धिमाप्नुयात्॥

(उशना)

इसीलिये वेदने यतिका कर्ममें अधिकार नहीं रक्खा और उसे आज्ञा दी कि निर्जन वनमें चला जाय तथा फिर लौटकर न आवे।

यतिके वनमें जाकर फिर न लौटनेका दूसरा कारण यह भी है कि उसे वेद-शास्त्रके निष्कर्ष अर्थात् 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' इस गीताके कथनानुसार वेदरूप परब्रह्ममें स्थिति-लाभ करना चाहिये और फिर उस ब्रह्मस्थितिसे चित्तकी वृत्तिका पुनरुत्थान नहीं होने देना चाहिये। इसीका नाम स्त्रीजनासङ्कीर्ण वनमें जाकर न लौटना है, कहा भी है—

आदावन्ते च मध्ये च जनो यस्मिन्न विद्यते।
येनेदं सततं व्याप्तं स देशो विजनः स्मृतः॥

(अपरोक्षानुभूति ११०)

परन्तु यह संन्यास-मार्ग जिजीविषारहित ज्ञानवान्के ही लिये है। इससे समुच्चयवादका पूर्णतया खण्डन हो जाता है और यह बात भी सिद्ध हो जाती है कि कर्म-त्यागका अधिकार केवल संन्यासीको ही है, न कि शुष्काद्वैत

छाँटनेवाले सर्वसामग्रीसम्पन्न गृहस्थको भी। जिसे अच्छा खाना, अच्छा पहनना और शरीरको आराम देनेवाले पदार्थ रुचिकर प्रतीत होते हैं, उसके लिये विहित कर्म ही कैसे त्याज्य हो सकते हैं? हाँ, यदि देहसे उसकी ममत्व-बुद्धि उठकर अहमाकार-वृत्ति ही नष्ट हो जाय तब तो उसके लिये न कोई शास्त्रका ही सङ्केत है और न बन्धन ही। उसीके लिये भगवान्‌ने कहा है कि 'तस्य कार्यं न विद्यते', 'नैव तस्य कृतेनार्थः' (गीता ३। १७-१८) इत्यादि। ज्ञानकी पूर्णावस्थामें ही भगवान्‌ने 'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते' ऐसा कहकर ज्ञानीके लिये सर्व कर्मोंकी परिसमाप्तिका विधान किया है और उसी अवस्थामें विचरनेवाले महात्माके लिये ही भगवान् शुकदेवजीने भी कहा है—

निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतः को विधिः को निषेधः।

(शुकाष्टक)

यदि कोई कहे कि शास्त्रका गृहस्थोंके लिये भी निष्काम कर्मका निरूपण करना ठीक नहीं, क्योंकि फल, ज्ञान और प्रयोजनके बिना मनुष्यकी किसी कार्यमें प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती और यदि किसी प्रकार प्रवृत्ति हो जाय तो कर्म अवश्य फल देकर ही रहेगा; जैसे यदि कोई पुरुष तटस्थ होकर भी किसीको गाली देता या अपशब्द कहता है तो बदलेमें अवश्य वैसा ही प्रत्युत्तर पाता है। इसका उत्तर यह है कि कर्म निःसन्देह अपना फल देता है; परन्तु इतना भेद है कि यदि कामनाविशिष्ट पुरुष किसी काम्य-कर्मका शास्त्र-विधिसे अनुष्ठान करते हैं तो वह कर्म उन्हें शास्त्रप्रतिपादित फल देकर क्षीण होनेपर जन्म-मरणरूप बन्धनका कारण बन जाता है, और निष्कामभावसे करनेवालोंको वहींपर उनके अन्तःकरणकी मलिनताको दूर करके उसे शुद्ध बनाकर तत्त्वज्ञानका पात्र बना देता है, जिससे वह ज्ञानसम्पन्न हो जन्म-मरणसे मुक्त हो जाता है। इस प्रकार परम्परासे विहित कर्म ही मुक्तिका परम साधन है, यही शास्त्रका गुह्य रहस्य है। सिक्खोंके गुरु श्रीनानकदेवजीने कैसा सुन्दर कहा है—

कर्म करत होवे नेहकर्म। तिस वैष्णवका निर्मल धर्म॥

देव-भक्ति भी, चाहे वह साकारकी प्रतीकोपासनारूप हो और चाहे निराकारकी अहंग्रह-उपासनारूप, इस निष्काम कर्मके अन्तर्गत ही आ जाती है। अतः सद्गृहस्थ द्विजको कर्मका परित्याग कदापि नहीं करना चाहिये। अस्तु, जो मनुष्य त्यागमें असमर्थ है और निष्काम कर्म भी नहीं करता वह सकाम कर्म या केवल द्रव्यादिके उपार्जनमें ही प्रवृत्त होकर बार-बार जनमता-मरता रहता है तथा अपने शुभाशुभ कर्मोंके परिणाममें कभी स्वर्ग-सुख और कभी नरककी यातनाएँ भोगता है। अतः श्रेयस्कामी पुरुषको अपने चित्तकी स्थितिके अनुसार कर्म-त्यागरूप संन्यास अथवा निष्काम कर्म—इनमेंसे कोई भी एक मार्ग अवश्य स्वीकार कर लेना चाहिये। यदि इन दोनों मार्गोंसे च्युत होकर वह स्वेच्छाचारमें प्रवृत्त हो जायगा तो—

अधर्माज्जायतेऽज्ञानं यथेष्टाचरणं ततः।
धर्मकार्यं कथं तस्मादत्र धर्मो विनश्यति॥

(नैष्कर्म्यसिद्धि ४। ६३)

शास्त्रकी इस उक्तिके अनुसार इस लोकमें नाना प्रकारके आधिदैविक एवं आध्यात्मिक दुःखोंका अनुभव कर देहपातके अनन्तर यम-यातना भोगता हुआ कुम्भीपाकादि नरकोंके असह्य कष्ट भोगेगा और फिर पशु-पक्षी आदि चौरासी लक्ष योनियोंके चक्रमें पड़कर जबतक इस देवप्रार्थित मनुष्य-देहको पुनः प्राप्त न करेगा तबतक नाना प्रकारके दुःख भोगेगा। अतः इस सुअवसरको हाथसे न खोकर भूत-भविष्यत्‌की कुछ भी चिन्ता न कर अपने कल्याणके लिये जो कुछ बन सके इस वर्तमान जन्ममें ही कर लेना चाहिये। यही इस द्वितीय मन्त्रका अर्थ है और यही भाष्य-रहस्य महाम्बुधिके तात्पर्यकी दूसरी बिन्दु है जो कल्याणके सुज्ञ पाठकोंके समक्ष उपस्थित किया गया है। इसमें जो त्रुटियाँ रह गयी हैं उनको दयालु विद्वज्जन स्वयं सुधार लें और मुझे इस शास्त्रीय पथका अनजान बालक समझकर क्षमा करनेकी कृपा करें।

दूसरे प्रकारकी भक्तमनोरञ्जनी भाष्य-व्याख्या

ऊपर अद्वैत-मत-प्रवर्तक आचार्यचरण श्रीशङ्करस्वामीके द्वितीय मन्त्र-भाष्य तथा भाष्य-रहस्यका किञ्चिन्मात्र दिग्दर्शन कराया गया है। अब हम दूसरे प्रकारकी भक्तमनोरञ्जनी व्याख्या दिखाते हैं।

कई महात्माओं तथा आचार्योंका मत है कि जबतक ज्ञान उत्पन्न न हो तबतक भवसन्तारिणी सर्वदुःखापहारिणी सकलकलुषनाशिनी कृष्णप्रिया श्रीभक्तिदेवीका प्रादुर्भाव नहीं हो सकता, क्योंकि 'बिन परतीति होइ नहिं प्रीती' और उसीके प्रादुर्भावके लिये श्रीमद्भागवतमें कहा है—

तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता ॥

तथा अध्यात्मरामायणमें श्रीरामगीतामें भी कहा है—

आदौ स्ववर्णाश्रमवर्णिताः क्रियाः
कृत्वा समासादितशुद्धमानसः ।

तात्पर्य यह है कि जितने भी स्ववर्णाश्रमोचित कर्म हैं उन सबका चरम लक्ष्य भक्तिकी प्राप्ति ही है और जब इस पतितपावनी भगवत्प्रिया भक्तिका आविर्भाव हो जाता है तब इन कर्मादिकी इतनी आवश्यकता नहीं रहती । वैष्णव आचार्योंका कथन है कि भक्तिकी प्राप्ति ज्ञानके अनन्तर ही हो सकती है, क्योंकि जबतक हमें किसीके सौन्दर्य, विभूति, ऐश्वर्य, गुण और स्वभाव आदिका परिचय नहीं होगा तबतक हम उसे प्राप्त करनेके लिये व्याकुल, उत्सुक, और प्रयत्नशील भी नहीं हो सकते । अतः भगवान्‌की भक्ति प्राप्त होनेसे पूर्व हमें उनके स्वरूपको अवश्य समझना होगा । और उनका स्वरूप समझनेमें रुचि उत्पन्न करनेसे पहले अन्तःकरणको अन्य विषयोंसे खाली करना भी अत्यन्त आवश्यक है । अन्तःकरण अन्य विषयोंसे तभी खाली हो सकता है जब उसमें परम प्रियतम, भक्त-मन-चोर श्रीश्यामसुन्दरकी अनूठी छवि निरन्तर विराजमान रहने लगे । और वह तभी बसेगी जब इस मनोमन्दिरको कर्म और उपासनाकी बुहारीसे परिमार्जित एवं शुद्ध कर दिया जायगा । इसीलिये भगवती श्रुतिने कहा है कि जबतक परमा भक्तिरूप चरम स्थितिकी प्राप्ति न हो तबतक आयु-पर्यन्त विहित कर्मोंको करता हुआ ही कालक्षेप करे, क्योंकि परमा भक्तिके उत्पन्न हो जानेपर संसारके सभी विषय नीरस हो जाते हैं और वान्त अन्नके समान स्वयं ही छूट जाते हैं । जिस समय चित्त परमा भक्तिमें निमग्न होकर संसारसे उपराम हो जाता है उस समय भगवच्चिन्तनके सिवा और कोई कार्य शेष नहीं रहता । उसी अवस्थामें कर्म-परित्यागरूप संन्यासका अधिकार है; उससे पूर्व नहीं । बस, कर्म करनारूप प्रवृत्ति तथा परमा भक्तिरूप निवृत्ति—ये ही दो वेदविहित मार्ग हैं । वेदभगवान् कहते हैं—'हे नर ! इन दोनों मार्गोंके अतिरिक्त और कोई मार्ग ऐसा नहीं है जिसपर चलनेसे कर्मका लेप न हो' क्योंकि कुछ-न-कुछ करते रहना यह मनका स्वभाव ही है। अतः यदि तू इसे विहित कर्म तथा उपासनाकी ओर नहीं लगायगा और निवृत्तिरूप भक्तिमें ही प्रवृत्त करेगा तो इसका उच्छृङ्खलतापूर्वक कोई तीसरा मार्ग पकड़ना अनिवार्य ही है । इस प्रकार उत्पथमें प्रवृत्त होकर तुझे जन्म-मरणरूप फल अवश्य भोगना पड़ेगा । ऐसा जानकर तू अपने मनको कर्म या भगवच्चिन्तनरूप भक्तिमें क्यों अग्रसर नहीं करता ?

तीसरे प्रकारसे मन्त्रका यह अर्थ भी किया जा सकता है कि जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, देह-इन्द्रियादिद्वारा की जानेवाली क्रियाका नाम ही कर्म है । इन्द्रियोंका स्वभाव है कि अपने सञ्चालक साभास मनसे प्रेरित होकर अपने-अपने काममें प्रवृत्त होती ही रहती हैं । कोई लाख उपाय करे, परन्तु नेत्र-इन्द्रिय यदि खुली रहेगी तो अवश्य देखनेका काम करेगी । इसी प्रकार अन्य इन्द्रियाँ भी अवश्य अपना-अपना कार्य करेंगी क्योंकि सृष्टिके आदिमें ऐसा ही ईश्वरीय सङ्कल्प हो चुका है । अतः वेदभगवान् कहते हैं कि जब इस इन्द्रिय-प्रवृत्तिको रोकना तेरी शक्तिसे बाहर है तो यही अच्छा है कि जिस इन्द्रियका जो अच्छे-से-अच्छा और बड़े-से-बड़ा कार्य हो वही उससे लिया जाय अर्थात् आँखका काम देखना है । अतः तू इससे भगवान्‌की प्रतिमाओं तथा उनके भक्तोंका दर्शन कर अथवा जहाँ भी तेरी दृष्टि जाय वहीं अपने प्यारे इष्टदेवका ही रूप देख । श्रोत्र कुछ-न-कुछ जरूर सुनेगा अतः इससे भगवद्गुणानुवाद सुननेका काम कर । रसनासे उस प्रियतमके गुण-गायनका ही काम ले और त्वचाको ऐसा स्वभाव डाल कि उसमें भगवन्नाम सुनते ही रोमाञ्च और पुलकावली होने लगे । इसी प्रकार हाथोंसे भगवान्‌को स्नान कराने और उन्हें तुलसीदल एवं पुष्प आदि समर्पण करनेका तथा हर समय सच्चे और आज्ञाकारी सेवकके समान प्रभुके सामने करबद्ध खड़े रहने और उनके भक्तोंकी सब प्रकार सेवा-शुश्रूषा करनेका काम ले । और चरणोंसे भगवान्‌के मन्दिरोंमें जाने तथा तीर्थाटनका काम ले । इन कामोंसे बढ़कर और कोई कार्य नहीं है । अतः श्रुति कहती है 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि'—अर्थात् इस संसारमें उपर्युक्त रीतिसे मन और नेत्रादि इन्द्रियों-द्वारा काम करता हुआ ही सौ वर्ष जीनेकी इच्छा करे । कर्मसे श्रुतिका तात्पर्य उसीसे हो सकता है कि जो उत्तमोत्तम हो और कर्म केवल ज्ञानेन्द्रिय या कर्मेन्द्रियसे ही हो सकता है । अतः श्रुति यही चाहती है कि मनुष्य अपनी इन्द्रियोंसे उपर्युक्त उत्तमोत्तम कार्य लेनेका ही प्रयत्न करे । इन उत्तम कार्योंमें तत्पर रहनेके अतिरिक्त 'नान्यथेतोऽस्ति' और कोई मार्ग नहीं है कि जिसपर चलने-

से 'न कर्म लिप्यते नरे', मनुष्यको अकर्म-विकर्मादिका लेप न हो। यदि मनुष्य इन्द्रियोंसे ऐसे श्रेष्ठ कार्य न लेगा तो यह जरूरी है कि उनकी प्रवृत्ति दुष्कर्मोंमें हो जायगी, और वे उसके अधःपातका कारण बन जायँगी, जैसा कि श्रुति स्वयं कहती है—

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भू-
स्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष-
दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥
(कठ० २। १। १)

अतः कर्म करता हुआ ही 'जिजीविषेत् शतं समाः' सौ वर्ष अर्थात् पूर्ण आयुपर्यन्त जीनेकी इच्छा करे। तात्पर्य यह है कि मनुष्य भगवद्भक्तिसम्पादनरूप जीवनकी इच्छा करे न कि बाह्य वृत्तिसे इन्द्रियोंका भृत्य बनकर भगवद्भक्ति-त्यागरूप मरणकी, क्योंकि भगवद्भक्तिका रसास्वाद ही जीवन है और इसका त्याग ही मृत्यु। इसलिये ऐसा जिये कि फिर जीनेकी इच्छा न रहे और ऐसा न मरे कि पुनः-पुनः जन्म-मरणके चक्रमें गिरना पड़े। इस प्रकार इन्द्रियोंका उपर्युक्त रीतिसे सदुपयोग करना ही विहित कर्म करते हुए सौ वर्ष जीनेकी इच्छा करना है। यही कल्याणका मार्ग है। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

स वै मनः कृष्णपदारविन्दयो-
र्वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने।
करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु
श्रुतिं चकाराच्युतसत्कथोदये ॥
(नवमे श्रीशुकवाक्यम्)

सा वाग्यया तस्य गुणान् गृणीते
करौ च तत्कर्मकरौ मनश्च।
स्मरेद्वसन्तं स्थिरजङ्गमेषु
शृणोति तत्पुण्यकथाः स कर्णः ॥
शिरस्तु तस्योभयलिङ्गमान-
मेतत्तदेव यत्पश्यति तद्धि चक्षुः।
अङ्गानि विष्णोरथ तज्जनानां
पादोदकं यानि भजन्ति नित्यम् ॥
(दशमे शौनकवाक्यम्)

इस प्रकार कई तरहसे इस श्रुतिका अर्थ निरूपण करके कर्मका विस्तार दिखलाया, जिज्ञासुको चाहिये कि उपर्युक्त कर्म-मार्गोंमेंसे जिसको जो रुचिकर हो उसीपर अग्रसर होनेकी चेष्टा करे। वृथा वाद-विवादमें आयु क्षय न करे। क्योंकि कर्म ही अन्तःकरणकी शुद्धिद्वारा मोक्षका परम्परा-साधन है। कर्मके विना कुछ नहीं बन सकता। यह द्वैतका ही नहीं, अद्वैत-निष्ठाका भी सर्वोच्च सिद्धान्त है, जैसा कि अद्वैतके आदि-अधिष्ठाता श्रीवसिष्ठ-जीने योगवासिष्ठमें श्रीरामचन्द्रजीसे कहा है—

उभाभ्यामेव पक्षाभ्यां यथा खे पक्षिणां गतिः।
तथैव ज्ञानकर्मभ्यां जायते परमं पदम् ॥
केवलात्कर्मणो ज्ञानान्न हि मोक्षोऽभिजायते।
किन्तूभाभ्यां भवेन्मोक्षः साधनं तूभयं विदुः ॥
(१। १। ७-८)

यहाँ कर्मको मोक्षका परम्परा-कारण और ज्ञानको मुख्य अर्थात् साक्षात् कारण समझना चाहिये। इससे ज्ञानकर्मसमुच्चयवादकी भ्रान्तिमें पड़नेसे भी बचत हो जायगी, नहीं तो इसमें भी समुच्चय-अनुष्ठानकी वृथा शङ्काकी सम्भावना हो सकती है।

इस विस्तृत शास्त्रार्थसे गृहस्थ, ब्रह्मचारी और वानप्रस्थ तीन आश्रमोंके लिये यह बात सिद्ध होती है कि वे आयु-पर्यन्त अपने वेदविहित कर्मोंका पालन करते हुए ही कालक्षेप करें। इसीमें उनका कल्याण है और यह श्रुत्युक्त मार्ग ही उनके लिये श्रेयस्कर है। उनकी जन्म-मरणरूपी फाँसी भी इसीसे कट सकती है।

यही इस मन्त्रका अभिप्राय है, यही व्यवस्था पूज्य वैष्णव आचार्यपादोंने अपने ग्रन्थोंमें दी है और यही भगवान् कृष्णचन्द्रका आदेश है—

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥
न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
(गीता ३। ३-४)

पण्डित रामचन्द्रने अपनी संस्कृत ईशोपनिषद्विवृतिमें

इस मन्त्रका एक ही श्लोकमें बड़ा सुन्दर चित्र खींचा है—

निष्कामकर्माणि तु यावदायु-
स्त्वमिच्छ कर्तुं खलु यन्मुमुक्षुः ।
एवं तव स्यान्न फले न लेपो
न चित्तशुद्धावितरः प्रकारः ॥

अब मैं श्रीराधिकासहित देवाधिदेव भगवान् कृष्णचन्द्रको साष्टाङ्ग नमस्कार कर इस द्वितीय मन्त्रकी व्याख्या समाप्त करता हूँ और आशा करता हूँ कि भगवान् मुझे शेष मन्त्रोंकी व्याख्या भी इसी प्रकार आपकी सेवामें उपस्थित करनेकी शक्ति प्रदान करेंगे । ॐ शम् ।

प्रेम-भक्ति

(लेखक—ब्रह्मचारी श्रीगोपाल चैतन्यदेवजी)

प्रेम-भक्ति गगनमण्डलमें स्थित सूर्यकी भाँति स्वयं प्रकाशित है । जन्म-जन्मान्तरके सुसंस्कारके फलस्वरूप किसी भाग्यवान् पुरुषके हृदय-कमलमें भगवान्का गुण सुनते ही अपने-आप इस प्रेम-भक्तिका विकास हो जाता है । ज्ञान, योग, निष्काम-कर्म आदि किसी भी साधनाकी सहायतासे प्रेम-भक्तिकी उत्पत्ति नहीं होती । जिस भगवत्-भक्तिको शास्त्रोंने अहैतुकी बतलाया है, वह किसी भी प्रकारके हेतुसे उत्पन्न नहीं होती । यथा—

स वै पुंसां परो धर्मः यतो भक्तिरधोक्षजे ।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सम्प्रसीदति ॥
(श्रीमद्भा० १ । २ । ६)

साधन-भक्तिको जो प्रेम-भक्तिका कारण बतलाया गया है, वह तो केवलमात्र कोमल हृदयवाले कनिष्ठ भक्तोंको भक्तिका तारतम्य समझानेके लिये ही है । जैसे कच्चा आम समयपर पक्के आमके रूपमें परिणत हो जाता है, जैसे सुकुमार शिशु ही समयपर परिणत-वयस्क युवक बन जाता है, वैसे ही अपक्व साधन-भक्ति भी परिपक्व दशामें प्रेम-भक्तिके नामसे विख्यात होती है । जैसे एक ही इक्षुरस (गन्नेका रस) स्वादके भेदसे गुड़, शर्करा, मिश्री, ओला आदि भिन्न-भिन्न नामोंसे प्रसिद्ध होता है, वैसे ही एक ही निर्गुण-भक्ति श्रद्धा, रुचि, आसक्ति आदि अनेक नामोंसे वर्णित होती है । अतः इसका सम्पूर्ण अंश सर्वावस्थामें ही आनन्द-चिन्मय भगवान्की भाँति स्वतः ही प्रकाशमान है । भगवद्भक्त सज्जनोंके हृदय-कमलमें निवास करनेवाली भक्तिदेवीकी कृपासे ही इसका उदय होता है । इसके सिवा इस विशुद्ध प्रेम-भक्तिको प्राप्त करनेका दूसरा और कोई उपाय ही नहीं है ।

सम्यङ्मसृणितस्वान्तो ममत्वातिशयाङ्कितः ।
भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते ॥
(भक्तिरसामृतसिन्धु)

जिससे चित्त सर्वतोभावेन कोमल हो जाता है एवं जो अतिशय ममता और स्नेहसे युक्त है, इसी गाढ़ भावको बुद्धिमान् पुरुष प्रेम कहा करते हैं ।

साधन-भक्तिकी साधना करते-करते रतिका उदय होता है, वही रति गाढ़ होनेपर प्रेम कहाती है । कविराज गोस्वामीजीने लिखा है—

साधन भक्ति हइते हय रतिर उदय ।
रति गाढ़ हइले तारे प्रेम नामे कय ॥
(चैतन्यचरितामृत)

अर्थात् साधन-भक्तिकी साधना करते-करते ही रतिका उदय होता है एवं रतिके गाढ़ होनेपर उसीको प्रेम कहते हैं ।

इसी प्रेमका प्रह्लाद, उद्धव, भीष्म, नारद आदि भक्तोंने भक्तिके रूपमें वर्णन किया है । सबके ऊपरसे स्नेह, ममता एवं लालसाको हटाकर एकमात्र भगवान्‌के प्रति जो स्नेह, ममता तथा लालसा होती है, उसीको प्रेम कहते हैं । यथा—

अनन्यममता विष्णौ ममता प्रेमसङ्गता ॥

(नारदपाञ्चरात्र)

यह प्रेम-भक्ति दो भागोंमें विभक्त है:—(१) भावोत्थ, (२) भगवान्‌के अतिप्रसादोत्थ । भगवान्‌के विशेष प्यारे भक्तोंको अन्तरङ्ग भक्त कहते हैं । उन्हीं अन्तरङ्ग भक्तोंके अङ्ग (शरीर) की निरन्तर सेवा करनेसे भावका उदय होता है, इस भावका परम उत्कर्ष प्राप्त होनेपर उसे भावोत्थ प्रेम कहा जाता है । दूसरे, भगवान् श्रीहरिको अपना सङ्ग-दान करने आदिको अतिप्रसादोत्थ प्रेम कहते हैं । यह प्रेम (१) माहात्म्य-ज्ञानयुक्त तथा (२) केवल अर्थात् माधुर्य-मात्रज्ञानयुक्त—इन दो श्रेणियोंमें विभक्त है । विधि-मार्गमें चलनेवाले भक्तगणोंका जो अतिप्रसादोत्थ प्रेम है, वह महिमज्ञानयुक्त है और रागानुगा भक्तिके आश्रित भक्तगणोंका प्रेम केवल अर्थात् माधुर्य-ज्ञान-युक्त होता है । इसमें महिमाकी विस्मृति हो जाती है।

भक्तिकी साधना करते-करते पहले श्रद्धा, उसके बाद साधु-सङ्ग, तत्पश्चात् भजन-क्रिया, तदनन्तर अनर्थ-निवृत्ति, फिर निष्ठा, तब रुचि, फिर आसक्ति, तदनन्तर भाव और तत्पश्चात् प्रेमका उदय होता है । प्रेमका उदय होते ही स्तम्भ (स्थिरता), स्वेद (पसीना), रोमाञ्च, स्वरभेद (आवाज बदलना), कम्प (काँपना), वैवर्ण्य (रङ्ग पलट जाना), अश्रु तथा प्रलय—इन आठ प्रकारके सात्त्विक भावोंका विकास होता है ।

रागानुगा केवला भक्तिके दास्यादि चारों प्रकारके भावोंमें शृङ्गार-रसात्मक भाव सर्वश्रेष्ठ है । मधुर-रसात्मक साधन-भक्तिसे मधुरा रतिका उदय होता है । इसी रतिसे भगवान्‌के साथ भक्तका विलास (आनन्द-जनक खेल आदि) आरम्भ होता है । क्योंकि मधुरा रति ही श्रीकृष्ण एवं तत्प्रेयसियों (स्त्रियों) का आदि-कारण है ।

किञ्चिद्विशेषमायान्त्या सम्भोगेच्छा ययाभितः।
रत्या तादात्म्यमापन्ना सा समर्थेति भण्यते ॥

(उज्ज्वलनीलमणि)

यदि सम्भोगकी वासना (इच्छा) श्रीकृष्णके सम्भोगकी वासनाके साथ मिल जाती है तो उसे समर्था भक्ति कहते हैं । यह गोपिकानिष्ठ समर्था रति जब गाढ़ हो जाती है तब इसे पर-प्रेम कहते हैं ।

स्याद् दृढेयं रतिः प्रेम्णा प्रोद्यन् स्नेहः क्रमादयम् ।
स्यान्मानं प्रणयो रागोऽनुरागो भाव इत्यपि ॥
बीजमिक्षुः स च रसः स गुणः खण्ड एव सः ।
सा शर्करा सिता सा च सा पुनः स्यात् सितोपला ॥
अतः प्रेमविलासाः स्युर्भावाः स्नेहादयस्तु षट् ।
प्रायो व्यवह्रियन्तेऽमी प्रेमशब्देन सूरिभिः ॥

(उज्ज्वलनीलमणि)

जैसे बीजसे धीरे-धीरे ऊख क्रमशः रस, गुड़, खाँड़, शक्कर, मिश्री तथा ओला (उत्तम मिश्री) में परिणत हो क्रमशः निर्मल तथा सुस्वादु होती है, वैसे ही समर्था रति भी प्रेमके विलाससे क्रमशः परिपक्व होकर स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग तथा भावके रूपमें परिणत होती है ।

स्नेहसे भावतकके इन छः प्रेम-विलासोंको भी विद्वान् प्रायः प्रेम ही कहते हैं ।

भाव जितना ही गाढ़से गाढ़तर बनकर प्रेममें परिणत होता रहता है, उतनी अधिकतासे भक्तके नृत्य, विलुण्ठन, गीत, क्रोशन (उच्च शब्द), तनु-मोटन (देहको घुमाना), हुङ्कार, जृम्भन, दीर्घ श्वास, लोकापेक्षात्याग, लालास्राव (लार टपकना), अट्टहास

(जोरसे हँसना), घूर्णा (घूमना), हिक्का (हिचकी) आदि विकारोंद्वारा चित्तस्थ सारे भावोंका अनुभव होता रहता है। भाव धीरे-धीरे विभाव, अनुभाव, सात्त्विक भाव, व्यभिचारी भाव और स्थायी भावादि सामग्रीद्वारा परिपुष्ट होकर परमरसके रूपको प्राप्त होता है। साधनाके द्वारा सात्त्विक आदि भावनाएँ क्रमशः धूमायिता, ज्वलिता, दीप्ता तथा उद्दीप्ता हो उठती हैं। इसके बाद भाव और भी उत्कृष्ट अवस्थामें पहुँचकर महाभावके नामसे प्रसिद्धि प्राप्त करता है। यही गोपिकानिष्ठ समर्था रतिका चरम विकास है।

रतिके जहाँतक बढ़नेकी आवश्यकता है, वहाँ-तक बढ़कर उस अवस्थाको प्राप्त करते ही वह प्रेम-भक्तिके रूपमें परिणत हो जाती है। इसीसे गोपिका-निष्ठ समर्था रतिके प्रौढ़-महाभाव-दशाको प्राप्त होते ही उसे प्रेमा-भक्ति कहते हैं। यथा—

इयमेव रतिः प्रौढा महाभावदशां व्रजेत्।
या मृग्या स्याद्विमुक्तानां भक्तानां च वरीयसाम्॥

(उज्ज्वलनीलमणि)

ऐसे ही महाभावकी किसी भी विचित्र-दशामें भक्त चिद्घनानन्द भगवान्‌के अनन्त नित्य-लीला-समुद्रमें निमग्न हो जाते हैं।

शिव-सम्प्रदाय*

(तत्त्वपूर्ण कहानी)

(लेखक—म० श्रीबालकरामजी विनायक)

'बेटी! तू इतना कष्ट क्यों उठा रही है, ऐसा कठिन तप क्यों, किसलिये कर रही है?'

नीलदेवीने कुछ स्पष्ट उत्तर तो नहीं दिया, परन्तु अपना दक्षिण भुज-प्रलम्ब ऊँचा उठाकर सङ्केत कर दिया।

शुनम (विधाता) ने फिर कहा—'स्पष्ट क्यों नहीं बताती कि क्या चाहती है?'

नीलदेवी काँपते हुए स्वरसे बोली-'अन्तर्यामी-से बताना क्या? आप स्वतः मेरी बीती जानते हैं। आपकी बनायी हुई यह पुतली आपसे क्या छिपा सकती है? हाँ, मर्यादा-पालनके हेतुसे आप स्पष्टतया कहनेकी आज्ञा दे रहे हैं, तो सुनिये—मैं चाहती हूँ कि जब यह प्राण श्रीप्राणनाथकी सेवामें प्रस्थान करे, तब इस भौतिक शरीरका पृथ्वी-अंश ऐसे अद्रिके रूपमें परिणत हो, जिसपर भगवान् विष्णुका वास हो, जलीय अंश एक सुविशाल नदीके रूपमें परिणत हो जाय और अग्नि-तत्त्व शिव-पदको प्राप्त हो। इहलोकमें ऐसी घटनाएँ घटित होकर चिरस्मरणीय हो जायँ और दिव्य लोकमें पवन-तत्त्व उस न्यग्रोध (वट) के शीतल अनिलमें प्रविष्ट हो जाय जिसकी छायामें बैठकर सदाशिव पार्वतीको श्रीराम-कथा सुनाते हैं, और आकाश-तत्त्व उस महाशून्यमें लय हो जहाँ निर्वाण-पथके पथिक योगयुक्त प्राणी आसन जमाते हैं।'

शुनमने 'एवमस्तु' कहते हुए यह भी वर दिया कि तेरे शरीरके षट्चक्रोंसे दिव्य अनुभूति उत्पन्न होगी जिससे लोकमें षट्-विध शिव-सम्प्रदाय प्रचलित होगा।

पाँच हजार वर्षसे पहले पञ्चनद-प्रदेशमें हर-अम्बा (हरप्पा) पुर बड़ा ही समृद्धिशाली नगर

* यह लेख शिवाङ्कके लिये लिखा गया था परन्तु उसमें नहीं भेजा जा सका।

था। सभी श्रेणीके लोग वहाँ बसते थे। पुहनम नामक एक धनी शिल्पी वहाँ रहता था जो उड़न-खटोला बनानेके लिये प्रसिद्ध था। वह पाँच दरहमसे लेकर एक सौ पाँच दरहमतकके मूल्यका लघु विमान बनाता था। उस समयके लोगोंमें व्योम-विहारकी लालसा बहुत बढ़ी हुई थी। इस कारण इस व्यवसायसे पुहनम करोड़पति हो गया था और समाजमें उसकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। वह इस कलाको सिखानेमें भी उदार था। मिश्र, यवनान आदि विदेशोंसे आये हुए शिल्पकारोंको विना संकोच सिखलाता था, परन्तु उनमेंसे बहुत ही कम इस कलाको सफलतापूर्वक सीख पाते थे। भारतीय, पारद और पारसीक शीघ्र इस कलामें निपुण हो जाते थे। आजन्म ब्रह्मचारी रहनेकी प्रतिज्ञा ही इस कला-शिक्षणमें प्रवेश करनेकी विशेष योग्यता थी। पुहनम भी बाल-ब्रह्मचारी था। वह सदा पृथ्वीकी ओर सिर झुकाए देखा करता था। वह कभी आँख उठाकर किसीको नहीं देखता था। इसलिये कहा नहीं जा सकता कि उसने भूलकर भी किसी विधु-वदनीका मुख देखा हो। अस्तु, पुहनम बड़ा ही चरित्रवान् शिल्पी था। वह उदार, नम्र-स्वभावी एवं आस्तिक भी था। वह अनाथोंका बड़ा हितैषी था और बहुत-से अनाथ उसके 'आगार' (अनाथालय) में परवरिश पाते थे। उनमें एक ब्राह्मण-कन्या नीलदेवी थी, जिसके तपकी चर्चा ऊपर हो चुकी है। जब वह कुमारी भी नहीं हुई थी, तभी उसके माता-पिता स्वर्गवासी हो गये थे। कुटुम्बमें कोई था नहीं। अस्तु, वह 'आगार' में भरती की गयी। वह थी बड़ी सुन्दरी और उसमें दैवी गुण थे। उसने अपने धर्मपिता पुहनमसे उड़न-खटोला बनाना जल्द सीख लिया और अपनी विमल बुद्धिसे उसने एक ऐसी कील उपयुक्त स्थानपर ठोंक दी, जिससे वह आकाशमें चार योजन ऊपर उड़ने लगा और झञ्झावातसे भी उसे दूसरी किंजिस लगाकर सुरक्षित कर दिया। इस आविष्कारसे पुहनम उसपर बहुत प्रसन्न हुआ। उसको बहुत प्यार करने लगा। इस कलामें निपुण वही एकमात्र स्त्री थी, जिसने नियमानुसार आजन्म ब्रह्मचर्यकी प्रतिज्ञा की थी। युवती होते ही गुणके साथ उसके रूप-यौवनकी प्रशंसा चारों ओर फैल गयी। बहुत-से राजकुमार उसपर मुग्ध होकर उसकी प्राप्तिके लिये पुहनमसे प्रार्थी हुए। परन्तु उसकी भयङ्कर प्रतिज्ञाकी बात सुनकर काँप उठे। अपने मन्द भाग्य और विधाताकी इस त्रुटिपर खेद प्रकट करते थे कि उसने ऐसा अद्भुत रूप-यौवन उसे देकर उसका उपभोग करनेका अधिकारी किसीको नहीं पैदा किया।

सिन्धुकी घाटीमें महेन्द्रजाद्रि (मोहेनजादारो) पुर भी सुविस्तृत और जन-धनसे पूर्ण नगर था। यहाँका राजा ब्राह्मण था और उसका नाम शशाद था। तिनेमलि नामक उसका युवराज नीलदेवीपर मोहित था। वह स्वयं पुहनमके पास आया और उस प्रतिज्ञाको विसर्जन करनेकी अनुमति नीलदेवीको दिये जानेकी साग्रह प्रार्थना करने लगा। पुहनमने कहा—'राजकुमार! प्रतिज्ञा-भङ्गकी चर्चा आप नीलदेवीहीसे चलाइये। वही ऐसा कर सकती है। मैं इस विषयमें कुछ न कहूँगा।'

राजकुमारने नीलदेवीसे बातचीत की। उसने कहा—'एक बार प्रतिज्ञा करके फिर उसे भङ्ग करना ओछे एवं तुच्छ मनुष्यका काम है, और वह भी क्षणभङ्गुर विषय-सुखके लिये। 'चार दिनकी चाँदनी और फिर अँधेरी रात।' मनुष्य-जन्मका लक्ष्य सदाशिवकी प्राप्ति है, विषय-सुख नहीं। आप धोखेमें मत पड़िये। मेरी तरह आप भी आजन्म ब्रह्मचारी रहनेकी प्रतिज्ञा कीजिये।'

राजकुमार उसके कहनेमें आ गया। आजन्म ब्रह्मचर्यकी प्रतिज्ञा करते हुए उसने कहा—'पुरुष होकर मेरे लिये लज्जाकी बात होगी यदि मैं तुम्हारा अनुसरण न करूँ। तुम्हारे प्रणयकी वेदीपर सदाशिवके चरणोंमें विषय-सुखका बलिदान करना ही उचित समझता हूँ। अपना प्यारा शुक, जिसमें मेरा प्राण बसता है, उपहारस्वरूप तुम्हें दिये जाता हूँ। यह 'शिवोऽहम्' का दिव्य निनाद तुम्हें सुनाया करेगा। यह ध्वनि इसे स्वतः-सिद्ध है, किसीने सिखलाया नहीं है।'

राजकुमार विदा होकर अपनी राजधानीको लौट गया। नीलदेवी तोतेको पाकर बहुत प्रसन्न हुई। सोते-जागते जहाँ वह रहती थी, वहीं सुग्गेके पिंजड़ेको अपने पास बड़ी ही सावधानीसे रखता था। एक दिन पिछली रातमें शुकने नीलदेवीको आत्मचरित सुनाया। उसने कहा—'देवि, तुम मुझको नहीं पहचानती, परन्तु मैं तुझे अच्छी तरह जानता हूँ। मैं शिव नामक ब्राह्मण तेरा पति हूँ और तू मेरी भार्या है। तेरा और मेरा स्वर्गीय सम्बन्ध है। भूतलपर तीन जन्मोंसे तू मेरे लिये तप कर रही है, परन्तु दैवयोगसे कभी भी तुझे संयोग-सुख प्राप्त नहीं हुआ। कल पिंजड़ा खोल देना, मैं उड़कर कश्यप-सागरपर चला जाऊँगा। तू फिर कठिन तप करके मेरे पास पहुँचनेकी चेष्टा करना। जब तू तपस्याके अनन्तर मेरे पास पहुँचेगी, तब हम दोनों भौतिक शरीर त्यागकर कैलाशवासी होंगे और वहीं सनातन संयोग प्राप्त होगा।'

दूसरे दिन शुक तो उड़कर चला गया और नीलदेवी तप करने लगी। उसकी तपस्या पूरी हुई और उसने मनोभिलषित वर प्राप्त किया।

अब नीलदेवीके उत्सर्गका समय आया। उसके अभिभावक, हित-मित्र एवं सगे-सनेही सब उपस्थित हुए। उनमें महेन्द्रजाद्रिके राजकुमार भी थे, जिसने उसके प्रेमके कारण विषय-भोग और युवराजत्वको तृणवत् समझकर त्याग दिया था। सबको सम्बोधित करके उसने कहा—'मेरी संसार-यात्रा समाप्तिपर है। अब मैं शीघ्र कश्यप-सागर (Caspean Sea) पर जाकर अपने प्राणनाथसे मिलूँगी। यदि मैं अब उनके अङ्ग-योग्य मानी जाऊँगी तो उनके साथ ही कैलाशको प्रस्थान करूँगी और वहाँ दिव्य सम्भोग-सुख प्राप्त करूँगी। आप आशीर्वाद दें कि ऐसा ही हो।' इस प्रार्थनाको सुनकर लोग फूट-फूटकर रोने लगे और साथ जानेके लिये आग्रह करने लगे। विशेष अनुरोध पुहनम और तिनेमलीका था। अस्तु, एक सुन्दर विमानपर तीनों आरूढ़ हुए और शेष लोगोंके अश्रुजलद्वारा दिये गये अर्घ्य-पादको स्वीकार करके कश्यप-सागरको प्रस्थित हुए। वियोगके कारण नगरनिवासी कातर दृष्टिसे बहुत देरतक विमानकी ओर देखते रहे, यहाँतक कि वह विमान उनकी दृष्टिसे ओझल हो गया।

विमान कश्यप-सागरके पश्चिमी तटपर उतरा। महर्षि कश्यपका आश्रम वहीं था। नीलदेवीका पति शिव नामक शुक वहीं था। और वरुण, मित्र, अश्विनीकुमार, वसु आदि देवगण एवं देवियाँ भी वहाँ उपस्थित थीं।

उसी समय देवदेवने अर्द्धनारीश्वररूपसे दर्शन दिया। उस अद्भुत रूपको देखकर देवता और मुनि मोहित हो गये। शुकने चोला बदल दिया और दिव्य रूप धारणकर कैलाशपतिकी स्तुति करने लगा। नीलदेवीने अपना चोला अपूर्व रीतिसे बदला। पहले तो उसके अङ्ग-प्रत्यङ्गसे स्वेदके रूपमें इतना जल निकला कि वह बढ़ते-बढ़ते एक नदीके रूपमें परिणत हो गया। उसी नदीको नीलनदी (Nile River) कहते हैं। शरीरकी अस्थियाँ आकाशमें उड़ चलीं और ऊपर उठते ही बढ़ने लगीं। बढ़ते-बढ़ते एक पर्वत-खण्ड होकर लवण-सागरमें

गिरी और नीलाचलके नामसे प्रसिद्ध हुई। श्रीहरिने उसपर वास किया और नीलाचल-नाथ कहलाये। उसके शरीरका पवन-तत्त्व-प्राण कैलाशपर उस वटके पवनमें मिल गया जहाँ भूतनाथकी राम-कथा होती है। इस प्रकार कुछ ही क्षण पहले कैलाशको प्रस्थान किये हुए पतिसे मिलकर वह कृतार्थ हो गयी। उसका आकाश-तत्त्व मोक्ष-मार्गके महाशून्यमें प्रविष्ट हो गया। और अग्नि-तत्त्व? वह तो निकलते ही 'अर्द्धनारीश्वर' के सम्मुख ज्योतिःस्वरूपसे माहेश्वर तत्त्वका उपदेश करने लगा—एक अद्वितीय ब्रह्म सच्चिदानन्दस्वरूप ही शिव-तत्त्व है। और 'स्थल' कहलाता है। शिव-तत्त्वमें 'महत्' और अन्य तत्त्व स्थित हैं और उसीमें विलीन हो जाते हैं। प्रथमतः इसमें विश्व स्थित है जो प्रकृति-विकृतिसे उत्पन्न है और अन्तमें उसीमें लीन हो जाता है। इसीलिये शिव-तत्त्वको स्थल कहते हैं। प्रथमांश 'स्थ' स्थानबोधक है और द्वितीयांश 'ल' लयका प्रतिपादक है। इसलिये भी इसको 'स्थल' कहते हैं कि यही सम्पूर्ण चराचर जगत्का आधार है और सम्पूर्ण शक्तियों, सब ज्योतियों और समस्त जीवोंको धारण करता है। यह सब जीवोंका विश्राम-स्थल है। यह वह सर्वोच्च पद है जिसको मोक्षार्थी बड़ी खोज और अनुसन्धानसे प्राप्त करते हैं। इसलिये इसको 'अद्वैत' भी कहते हैं। सन्निहित शक्तियोंके सञ्चालनसे 'स्थल' दो भागोंमें विभक्त हो जाता है-(१) लिङ्ग-स्थल और (२) अङ्ग-स्थल। लिङ्ग-स्थल तो साक्षात् शिवजी हैं, जो उपास्य हैं, आराधनीय हैं, और अङ्ग-स्थल जीव है, उपासक और आराधक है। इसी प्रकार शक्तिके भी दो विभाग हैं। एक अंश तो शिवके वामभागमें प्रतिष्ठित हो जाता है और 'कला' कहलाता है और दूसरा अंश या भाग जीवकी ओर प्रवृत्त होता है और उसे 'भक्ति' कहते हैं। शक्तिमें कुछ ऐसी विकृतियाँ हैं, जो कर्ममें प्रवृत्त करके संसारमें फँसा देती हैं और भक्ति सब बन्धनोंसे स्वतन्त्र है और कर्म एवं संसारसे दूर मुक्तिकी ओर ले जाती है। शक्ति तो उपास्य बनाती है और भक्ति उपासक। इसलिये शक्तिका वास लिङ्ग अथवा शिवमें है और भक्तिका आवास जीवमें है। अन्तमें इसी भक्तिके द्वारा जीव और शिवका सम्मिलन हो जाता है!

'लिङ्ग-स्थल' तीन भागोंमें विभक्त है। (१) भाव-लिङ्ग (२) प्राण-लिङ्ग और (३) इष्ट-लिङ्ग। पहला तो कलाहीन है और विश्वासगम्य है, केवल सत् है, देश-कालसे परे है और सर्वोच्च है। दूसरा बुद्धिगम्य है, कलासहित और कलारहित दोनों है। तीसरा कलायुक्त है और दृष्टिगोचर है। प्राण-लिङ्ग परमात्माका चित् है। और इष्ट-लिङ्ग आनन्दस्वरूप है। पहला परम तत्त्व है, दूसरा सूक्ष्म तत्त्व है और तीसरा स्थूल तत्त्व है। ये तीनों लिङ्ग क्रमशः जीव, जीवन और स्थूलविग्रह हैं, प्रयोग, मन्त्र और क्रिया हैं, और कला, नाद एवं बिन्दु हैं। इन तीनोंमेंसे प्रत्येक दो-दो भागोंमें विभक्त हैं। प्रथम महालिङ्ग और प्रसाद-लिङ्गमें, द्वितीय चर-लिङ्ग और शिव-लिङ्गमें और तृतीय गुरु-लिङ्ग और आचार-लिङ्गमें। ये षट् वर्ग छः प्रकारकी शक्तियोंके द्वारा परिसाधित होकर निम्नस्थ छः प्रकारके विग्रह उत्पन्न करते हैं। (१) जब शिव-तत्त्व चित्-शक्तिसे परिसाधित होता है, तब महालिङ्ग प्रादुर्भूत होता है, जिसके सहजगुण जन्म-मरणसे रहित होना, दोषसे मुक्त होना, विश्वास-प्रेम-गम्य होना, चैतन्यस्वरूप आदि हैं। (२) जब शिव-तत्त्व पराशक्तिद्वारा परिसाधित होता है, तब जो तत्त्व प्रकट होता है उसे 'सदाख्य' कहते हैं। [सदाख्य पाँच हैं—(१) शिव-सदाख्य जो सदाशिवमें परिणत होता है, (२) अमृत, असीम, जो ईश है, (३) समृत या ससीम है, जो ब्रह्मांश है, (४) कर्तृ जो ईश्वर

है और (५) कर्म, जो ईशानमें परिणत है।] और वही प्रसाद-लिङ्ग है। (२) जब शिव-तत्त्व आदिशक्ति-से परिसाधित होता है तब चरलिङ्ग उत्पन्न होता है जो जगत्के बाह्यान्तरमें व्याप्त है, प्रधानसे ऊँचा है, पुरुष है, केवल बुद्धिगम्य है। (४) जब शिव-तत्त्व इच्छा-शक्तिसे परिसाधित होता है, तब शिव-लिङ्गकी उत्पत्ति होती है, जो ससीम है और स्वाभिमानी है। (५) जब शिव-तत्त्व ज्ञान-शक्तिसे परिसाधित होता है, तब गुरु-लिङ्गकी उत्पत्ति होती है जो प्रत्येक प्रकारके ज्ञानका भाण्डार है, आनन्दसागर है और उसका निवास मानवी चित्में है। (६) जब शिव-तत्त्व क्रिया-शक्तिसे परिसाधित होता है तब आचार्य-लिङ्गकी अनुभूति होती है जो सब वस्तुओंका आधार है और त्याग-विरागका स्रोत है।

उपर्युक्त उपदेश देकर वह अग्निज्योति 'अर्द्धनारीश्वर' में विलीन हो गयी। देवताओं और ऋषियोंने उन उपदेशोंको धारण किया और कालान्तरमें छः प्रकारके उपर्युक्त सिद्धान्तोंको लेकर छः शिव-सम्प्रदाय लोक-कल्याणार्थ जगत्में प्रसिद्ध हुए। पुहनम और तिनेमली उड़न-खटोलेपर आरूढ़ होकर अपने देशको लौट गये।
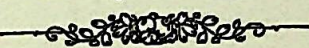
राम-राज्यका आदर्श

(लेखक—श्रीरामदासजी गौड़, एम० ए०)

[गतांकसे आगे]

जैसे वर्णोंमें वैश्योंकी संख्या सबसे अधिक थी वैसे ही आश्रमोंमें गृहस्थों-की संख्या सबसे अधिक होती थी। निदान गृहस्थ ही जनसाधारणमें सबसे अधिक थे। ब्राह्मण और क्षत्रिय ही वानप्रस्थ और संन्यास दोनों आश्रमके अधिकारी थे। शूद्रको केवल गृहस्थाश्रम विहित था। अतः गृहस्थाश्रमी चारों वर्णोंमें होनेसे समाजमें गृहस्थोंकी ही सबसे बड़ी संख्या थी। गृहस्थ ही अन्य आश्रमोंका पालक था। चतुर्थाश्रमी ही भिक्षुक था। परन्तु राम-राज्यमें ब्रह्मचारी हो या संन्यासी हो, किसीको सदावर्त्त या धर्मशालाको खदेड़नेका काम न था। प्रत्येक गृहस्थका यह कर्तव्य था कि वह कम-से-कम एक अतिथिका नित्य सत्कार करे। अतिथि जानेको उत्सुक रहता था और गृहस्थ उसे रोकने-को। गृहस्थको अतिथियोंकी खोज रहती थी। पञ्चमहायज्ञमें अतिथिको भोजन कराना एक परमावश्यक कर्तव्य था। वनवास करनेवाले भी गृहाश्रमियोंसे सहायता पाते थे। आजकलके बावन लाख भिक्षुक देशपर भारी बोझ समझे जाते हैं; परन्तु, सच पूछो तो इनकी संख्या हमारी आबादी के हिसाबसे बहुत कम ही है और यदि हमारी दरिद्रता हमें धर्म और कर्तव्यसे जी न चोरवाती और स्वार्थपरायण न बनाती तो ये भिक्षुक हमारे लिये बोझ होनेके बदले 'अतिथि-प्राणप्रिय' होते। राम-राज्यमें इनकी संख्या बहुत थी। परन्तु हर एक गृहस्थ सम्पन्न था, और उसे सम्पन्न होना ही था। हर एक गृहस्थ सुखी था और हर्ष और उत्साहका तो उसका चोलीदामनका साथ है। उत्साह और उमङ्गसे भरी प्रजा सदा अतिथियोंकी खोजमें रहती थी। जब सभी सुखी थे और सम्पन्न थे, तब किसे किसकी ईर्षा होती? दैहिक, दैविक, भौतिक किसी तरहके तापकी पीड़ा न थी, तब दुःख क्या होता? सब लोगोंमें परस्पर प्रीति थी। द्वेष तो तब होता जब कोई किसीके स्वत्वका लालच करता और उसे नसीब न होता। किसी कामनाकी पूर्ति न होती तो मनमें ग्लानि उपजती, क्रोध आता, सम्मोह होता और नाशका मार्ग बन जाता। परन्तु प्रजा तो आप्तकाम थी। उसे क्या अप्राप्य था? ऐसी दशामें सब-के-सब सुखपूर्वक वेदानुकूल आचरण करते थे। गृह्यसूत्रोंमें जो धर्म बताये गये उनपर आरूढ़ थे। नीतिके अनुकूल बर्ताव करते थे, अपने-अपने धर्मोंका पूरा पालन करते थे।

इस प्रकारके जीवनमें पापमें प्रवृत्त होनेका कोई कारण नहीं था। अपने कर्तव्य-पालनके साथ-ही-साथ बहुत समय बचता था। इन समयोंमें प्रजा जहाँ-तहाँ एकत्र हो भगवान् रामचन्द्रजीके गुण गाती थी। उसे जो आनन्द मिल रहा था उसके लिये प्रजा कृतज्ञतापूर्वक अपने राजा भगवान् रामचन्द्रजीकी भक्ति करती थी। इस राज्यमें राज्य-भक्ति और राम-भक्ति दो बातें न थीं।

धर्म-राज्यका वर्तमान प्रजापर ऐसा आचरण सुधारनेवाला प्रभाव पड़ा कि आगेकी होनेवाली सन्तानें और भी अच्छी हुईं। विकासकी गति भी ऐसी ही है कि माता-पिता अच्छे हों तो सन्तान उनसे भी अच्छी और अधिक योग्य निकलती है। विकलाङ्ग, विकृताङ्ग, दुर्बुद्धि, कुलक्षण बालक तो होते ही न थे। सब सुलक्षण, सब बुद्धि और बलसे युक्त होते थे। विनयशीलता सबमें थी, इसीलिये दम्भका कोई काम न था। सभी अपने-अपने धर्ममें निरत थे; परन्तु साथ ही जो किसी दुर्बलताके कारण किसीकी बराबरी नहीं कर सकता था तो उसपर अधिक बलवान्, अधिक धर्मवान् करुणा और दयाकी दृष्टि रखता था। सभी गुणी थे और साथ ही गुणका आदर भी करते थे। कोई किसीसे रत्तीभर अच्छा सलूक करता तो उसके साथ उसका सौगुना एहसान मानना और प्रत्युपकार करना जनताका साधारण व्यवहार था। कपट, चतुराई, धूर्तता, ठगी आदि सुननेमें नहीं आती थी। ये बातें केवल मानव-समाजमें न थीं। पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग सभी प्राणियोंके समाजमें व्यक्तिगत सुधार हो गया था। राम-राज्य केवल मनुष्योंके समाजके लिये न था। मर्यादापुरुषोत्तमका राज्य प्राणिमात्रके लिये हितकर था। शेर और बकरी एक घाट पानी पीते थे। स्वाभाविक वैर भी नष्ट हो गया था। यही बात थी कि विचारके लिये प्रभुके सम्मुख पशु-पक्षियोंकी नालिशें भी आती थीं, कुत्ते और गीधका भी न्याय होता था। आपसमें लड़कर झगड़ा चुकानेकी रीति उठ गयी थी। पाश्चात्य पुराणोंमें हजरत सुलेमानका राज्य भी ऐसा ही बतलाया जाता है। परन्तु हमको पता नहीं कि हजरत सुलेमानके समयमें न्याय-विभागके अतिरिक्त धर्म और नीति और अर्थ और समाजकी क्या व्यवस्था थी। जो हो, पाश्चात्य राज्यादर्श भी राम-राज्यके आदर्शके विपरीत न था।

सुराज्यका प्रभाव चराचर प्रकृतिपर पड़ता है। देश-कालके अनुकूल बरसात, गरमी, जाड़ेका होना, समयपर वृक्ष, लता, गुल्मादिका फलना-फूलना, लता और विटपका माँगनेपर फल-मधु आदि देना, गायोंका यथेष्ट दूध देना, खेतोंका यथेष्ट अन्न उपजाना, सागरों, पहाड़ों और खानियोंका अनायास ही रत्न दे देना यह एक साधारण-सी बात हो गयी थी। पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु अपनी-अपनी मर्यादाकी रक्षा करते थे। आग, बाढ़, आँधी, तूफान, भूकम्प आदि विपत्तियाँ कभी सुननेमें नहीं आती थीं। सूर्य उतना ही तपता था जितने तपनेकी धरतीको आवश्यकता थी और चन्द्रमा धरतीको अमृतसे आप्यायित करता रहता था। प्राणी-प्राणीमें ही मैत्री और सहकारिता-का भाव न था। प्रेम और सहयोग जड़ और चेतन, चर और अचरमें व्याप्त था। इच्छा होते ही बादल जल देते थे, पेड़ मधु और फल देते थे। मधुके लिये मक्खियोंके महलमें डाका डालने और चोरी करनेकी जरूरत नहीं पड़ती थी।

वेदानुकूल आचरणका प्रचार करनेके लिये भगवान् स्वयं वेदानुकूल आचरण करते थे और वर्णाश्रम-धर्मकी मर्यादाकी रक्षा करते थे। परात्पर ब्रह्म स्वयं होते हुए भी माया-मानुषरूपी अयोध्याधिपतिका-सा ही बर्ताव करते थे। छोटे-से-छोटेकी भी पूजा, आदर, मान, सत्कार नियम था। राजाओंका धर्म-पालन करके राजाओंको, व्यक्ति-धर्म पालन करके व्यक्तियोंको शिक्षा देते रहते थे, क्योंकि—

> यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
> मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥
>
> (गीता ३। २३)

और 'धर्मसंस्थापनार्थ' तो प्रभु अवतरे ही थे। साधुओंका परित्राण और दुष्कृतोंका विनाश तो थोड़े कालकी बात थी। धर्मसंस्थापन ही स्थायी और ठोस काम था। भगवान्‌के इस काममें जगज्जननी सीताजीका पूरा सहयोग था; सब भाई, सारा परिवार सम्मिलित था। प्रभुके समस्त सेवक और सखा भगवान्‌के रुखको देखकर तदनुकूल आचरण करते थे।

५—जन-विभूति

हम अन्यत्र कह चुके हैं कि अयोध्या-नगरीका बहुत बड़ा विस्तार था, बहुत बड़ी आबादी थी। परन्तु इसके साथ-ही-साथ नगरी सुन्दर भी थी, समृद्ध भी थी और नगरकी सारी प्रजा सुखी भी थी।

नारदादि सनकादि मुनीसा । दरसन लागि कोसलाधीसा ॥
दिन प्रति सकल अयोध्या आवहिं । देखि नगर बिराग बिसरावहिं ॥

उस समय ये ऋषि नित्य आकर भगवान्‌के दर्शन करते थे, परन्तु साथ ही नगरीकी शोभा देखकर मोहित हो जाते थे, ललचाकर फिर वहाँसे जाना नहीं चाहते थे। अटारियाँ सोनेकी थीं। मणिमाणिक्य जड़े हुए थे। रंग-विरंगकी सुन्दर चमकदार गच, सोने और मणिसे ढली हुई बनी हैं। नगरके चारों ओर सुन्दर परकोटा है जिसपर जगह-जगह रंग-विरंगे सुन्दर कँगूरे बने हुए हैं। साधारण-से-साधारण जगहोंकी धरती रंग-विरंगे काँचकी गचसे सँवारी हुई है। इतनी चिकनाई और सौन्दर्य है जितनी कि बहुमूल्य नृत्यशालाओंमें हो सकती है। देखकर मुनियोंका मन उनपर थिरकने लगता है। सफेद सुन्दर सँवारे संगमरमरके आकाशसे बातें करनेवाले महल हैं जिनके कलश चाँदी और सोनेके बने हुए हैं, जो चन्द्रमा और सूर्यकी तरह चमकते हैं। हर एकमें अनगिनत खिड़कियाँ थीं जो मणियोंकी बनी हुई चमकती थीं और उनकी राहसे मणिके दीपक चमकते थे। ये दीपक घरके हर कमरेमें हैं। आजकलकी बिजलीकी बत्तियोंके लिये शक्तिका आगार (पावरहौस) बनानेकी आवश्यकता पड़ती है। परन्तु राम-राज्यमें शक्त्यागारकी जरूरत न थी। प्रत्येक मणि स्वयं शक्त्यागार थी। बिजलीवाली जानकी जोखिम न थी। मणिकी बत्तियाँ बुझनेवाली न थीं। इनसे घर चमकता रहता था। देहरी मूँगोंकी बनी होती थी, खम्भे और दीवारें सोनेकी थीं और मणियोंसे जड़ी हुई थीं। मकान और कमरे बड़े-बड़े और ऊँचे और सुशोभित बने हुए थे। आँगनोंकी जमीन स्फटिकसे पटी हुई थी। घरोंके किवाड़ सोनेके और मणिजटित थे। घर-घरमें सुन्दर चित्रशालाएँ थीं जिनमें भाँति-भाँतिसे श्रीरघुनाथजीके चरित चित्रित थे। इन चित्रोंपर मुनियोंका बैरागी मन भी मोह जाता था। घर-घरके हातेके भीतर फूलोंके बगीचे भी लगे थे। उनकी बड़ी सेवा होती थी। भाँति-भाँतिके लता-वृक्ष, गुल्म फूलते-फलते हरे-भरे रहते थे। भौंरे और तरह-तरहके पक्षी गुंजार भरते चहचहाते रहते थे। बालकोंने पक्षियोंको परचा रखा था, खिलाते-पिलाते थे। ये मधुर वाणी बोलते, डोलते और उड़ते और कल्लोल करते-रहते थे। मोर, हंस, सारस, कबूतर मकानोंपर बैठे सुन्दर लगते थे। जहाँ-तहाँ मणियोंमें अपने रूप देख-देखकर सुखी होते और नाचते थे। बालक तोता-मैनाको पढ़ाते थे, राम-नाम और सुन्दर सुभाषित कहलाते थे। राजद्वार, गली, चौहट्टा बाजार सभी सुन्दर बने हुए थे। लेन-देनमें धर्म और ईमानका पूरा राज्य था। चारों वर्ण और चारों आश्रमके मनुष्य सच्चरित और उदार थे। भगवान्‌के और राजाके पूरे भक्त थे। कोई काम नीतिके विपरीत नहीं करते थे। बाजार और बस्ती जैसे सुन्दर हैं वैसे वहाँके नर-नारी, बाल-वृद्ध सच्चरित थे। सरयूमें निर्मल पवित्र जल बहता था, किनारोंपर कीचड़-कर्दमका नाम न था। बस्ती, बाहर, सर्वत्र सफाई थी। वह घाट जहाँ घोड़े-हाथी आदिके झुण्ड-के-झुण्ड पानी पीते थे दूर था, सबसे अलग था, बड़ा लम्बा-चौड़ा था। पानी भरनेके घाट अनेक थे, बड़े सुन्दर बँधे थे। वहाँ स्त्रियाँ ही आती थीं। पुरुष वहाँ स्नान नहीं करते थे। राज-घाट अत्यन्त सुन्दर और सुभीतेका बना हुआ था, वहाँ चारों वर्णके मनुष्य स्नान करते थे। शूद्रोंके लिये कोई अलग घाट न था। और होता क्यों ?

जिस सम्राट्‌ने निषादको गले लगाया, विराध और गीधकी प्रेत-क्रिया की, शबरीके फल खाये; वानर, भालुओं और राक्षसोंको अपनी बराबरीका पद दिया, धोबीतकके दुर्वादको शिक्षाके पवित्र भावसे ग्रहण किया, उसके राज्यमें वर्ण-भेदके कारण अपने-अपने कर्तव्यभावके साथ-ही-साथ परस्पर सहकारिता और प्रेमभावके सिवा ईर्षा, घृणा और द्वेषके भाव कैसे हो सकते थे ? वहीं सरयूके तीर-ही-तीर देवताओंके मन्दिर थे और मन्दिरोंके चारों ओर सुन्दर उपवन थे। कहीं-कहीं नदीके किनारे उदासी, मुनि और संन्यासी वास करते थे जो स्वाध्याय और तपमें लगे हुए थे। उन्होंने तुलसीके वन लगा रखे हैं। नगर और बाहर सभी जगह मनोहरता और सजावटकी बहार थी। बाग-बगीचे, बावड़ी, कुएँ, तालाब लम्बे-चौड़े और सुन्दर बने हुए हैं। सभी जगह सीढ़ियाँ सुन्दर-सुन्दर थीं और निर्मल जल भरा रहता था। सुन्दर पखेरुओंका कलरव आने-वालोंका स्वागत करता रहता था।

अयोध्या-नगरीकी जो शोभा वर्णन की गयी वही गाँव आदि छोटी बस्तियोंकी भी थी। राम-राज्यमें नगरीके सिवा गाँव और खेत सारे देशमें, सारे भूमण्डलपर उद्यान-सा दीखता था। खेतोंकी सिंचाईके लिये नहर और कुओंकी जरूरत न थी। समयपर किसानकी आवश्यकताके अनुसार बादल बरसते थे। उपज इतनी होती थी कि जानवरोंके खाकर

तृप्त हो लेनेपर भी गल्ला जरूरतसे ज्यादा हो जाता था। फिर भी गल्लेको ढो-ढोकर एक देशसे दूसरेमें ले जानेकी जरूरत न थी। नगर, ग्राम और बस्तीके उन लोगोंमें वह बँट जाता था जो खेती नहीं करते थे। खेती तो वैश्य गृहस्थ ही करते थे। तीनों वर्ण और तीनों आश्रम तो उसी अधिक उपजपर निर्भर करते थे। भू-कर या लगान भी धर्मशास्त्रके अनुकूल उपजके अंशोंमें ही दिया जाता था। नकदका व्यवहार न था। वह अंश भी सीधे सम्राट्के पास न जाता था। गाँव-गाँवके राजा जमींदार वह अंश लेकर ग्रामकी भलाई और रक्षामें लगाते थे। और कुछ अंश सम्राट्के पास पहुँचता था। नगरके आस-पासकी खेती नागरिकोंकी आवश्यकताके अनुसार होती थी। उपजका उबरा हुआ अंश इतना अधिक भी नहीं होता था कि उसे नष्ट करना पड़े। वर्षा आदि ऋतुओंका ऐसा सामञ्जस्य और ऐसी अनुकूलता थी कि राम-राज्यके ग्यारह हजार वर्षोंमें किसीने दुर्भिक्ष या अकाल-मृत्यु जाना ही नहीं। पाला, बाढ़, हिम-वर्षा, आँधी, अग्नि, भूकम्प आदि उपद्रव इतने दीर्घकालतक सुननेमें नहीं आये। टिड्डियोंका दल कभी देखनेमें नहीं आया। ऋतुकी उग्रतासे, लू या शीतसे प्रजाको कभी पीड़ा नहीं पहुँची। किसी शत्रुने दूसरेपर चढ़ाई न की और प्रजाको न सताया। जङ्गलोंमें पशु और वनवासी और बस्तियोंमें रहनेवाले प्राणी सभी सुखी और समृद्ध थे। उस कालमें धनकी परख सिक्कोंकी गिनतीसे नहीं होती थी। अन्न, गाय-बैल, हाथी-घोड़े, कपड़े-लत्ते, जेवर, घर-द्वार, खेत-खलिहान ये ही धन थे। आज भी सच्चे धन ये ही हैं। किसीके पास काफी अन्न, चारा और एक हजार गौएँ हैं तो उसके धनत्वमें हानि होनेकी उतनी सम्भावना नहीं है जितनी कि उस लखपतीके धनत्वमें है जिसके पास एक लाख रुपये हैं, जिनका मूल्य चाँदीके साथ किसी क्षण पचास हजार या पचीस हजार हो जा सकता है। राम-राज्यमें सिक्केवाले झूठे धनको लोग धन नहीं समझते थे, पैसेकी मायाकी आजकी-सी दुहाई नहीं फिरी थी।

६-राम-राज्यकी अर्थ-व्यवस्था

तो क्या सिक्का न था? ऐसी बात न थी। सोने-चाँदीका प्रयोग जहाँ जैसा चाहिये था वैसा ही होता था। लेन-देनमें सिक्केका व्यवहार भी जैसा चाहिये वैसा था। किसान तो अपनी उपज राजा या जमींदारको देता ही था, सम्राट्का राजस्व भी उसी उपजका अंश होता था। नगरोंके आस-पाससे यह अंश जिसमें ही भेजा जाता था। नगरमें यही अन्न-वस्त्रादि नागरिकोंके काम आते थे। परन्तु राम-राज्यका तो सार्वभौम विस्तार था। हजारों कोससे या जल या स्थल किसी मार्गसे भी अन्न आदि भारी चीजें भेजनेकी न तो आवश्यकता थी, न प्रथा। उनके बदले थोड़ा स्थान लेनेवाले सिक्के, मोती, हीरे, जवाहिर, मणि-माणिक्य आदि भेजे जाते थे। यह सभी सिक्केकी तरह चलते थे। दूर-दूरसे विनिमयका सुभीता स्पष्टरूपसे इसी विधिमें था। अपने स्थानीय बाजारोंमें इन सिक्कोंकी बिल्कुल जरूरत न थी। सिक्के सचमुच सम्पत्तिके विनिमयके सुभीतेके लिये हैं। मुझे वस्त्र चाहिये, बजाजको अन्न चाहिये। मैं उसे वस्त्रके बदले अन्न दे दूँ तो दोनोंको सिक्केकी जरूरत नहीं रह जाती। देशके भीतर आपसके स्थानीय व्यवहारमें सिक्केकी आवश्यकता पड़नी ही न चाहिये। फिर सोने-चाँदी, मोती-मूँगा, हीरा-जवाहिर, किस काम आवेंगे? सोना-चाँदी तो बरतनोंके बनानेमें काम आते थे, किवाड़, खम्भे, दीवार आदिके ऊपर शोभाके अनुसार चढ़ानेके काम आते थे। मणि-माणिक्य, रत्न आदि सजावटके कामोंमें लगते थे। जेवरोंके बनानेमें भी लगते थे। मूल्यके अनुसार एक निश्चित वज़नके टुकड़े ठप्पोंद्वारा बना लिये जाते थे। यह ऊपर बताये सब कामोंसे बचा सोना था जो सिक्कोंके रूपमें राजस्व-कोषमें रक्खा जाता था और दूरस्थ देशोंसे लेन-देन या सम्पत्ति-विनिमयके काममें आता था। अथवा परिव्राजक, ऋषियों, मुनियोंको दान या भेटमें मिलता था। स्थानीय प्रजामेंसे भी उन्हींको इसकी आवश्यकता पड़ती थी जिन्हें इस तरहका दान या भेट देना अथवा कहीं भेजना आवश्यक होता था। कोई व्यापारी चीनसे रेशमी वस्त्र लाया और उससे किसीने खरीदा तो उसे सोनेका सिक्का या कोई रत्न दाममें देगा। अथवा बाहरी व्यापारी अपना बहुमूल्य माल लाकर व्यापार-मन्त्रीको देता है और उसे रत्नों या अशर्फियोंमें दाम मिल जाते हैं। उसे बाजार तलाश करनेकी जरूरत नहीं है।

तो फिर आपसमें विनिमयकी विधि क्या थी? क्या बजाजके पास लोग अनाज ले जाते थे? चमारसे जूता लेना हुआ तो क्या लोग उसे एक-एक बोरा अनाज

देते थे ? या बजाजको जूतेकी जरूरत हुई, मगर चमारको कपड़ा नहीं चाहिये, अन्न भी नहीं चाहिये, चाहियें उसे मसाले तो क्या बजाजको कपड़ा चाहनेवाले मसालेवालेको खोजना पड़ेगा ? इस तरहका विनिमय-प्रबन्ध तो बड़ा ही जटिल होगा ?

राम-राज्यमें ऐसी जटिलता कहाँ ? बाजारमें बजाज, सर्राफ, बनिये, परचूनवाले, शाक-भाजीवाले सभी तरहके दूकानदार अपने-अपने निश्चित समयपर कर्तव्य-पालनमें निष्ठावान् बैठे हुए हैं। जिसको जिस चीजकी जरूरत होती है, वह आकर ले जाता है। न तो मोल-भाव करनेकी जरूरत है और न दाम चुकानेकी।

बाजार रुचिर न बनइ बरनत बस्तु बिनु गथ पाइये।
जहँ भूप रमानिवास तहँकी संपदा किमि गाइये॥
बैठे बजाज सराफ बनिक अनेक मनहुँ कुबेर ते।
सब सुखी सब सच्चरित सुंदर नारि-नर सिसु जरठ जे॥

जब दाम नहीं मिलता था, तब दूकानवाले दूकानपर क्यों बैठते थे ? उन्हें किस बातका लोभ था ? लोभकी चर्चा कैसी ? वह तो अपना कर्तव्य पालन करते थे। वैश्यका काम कृषि, पालनद्वारा प्राणियोंकी रक्षा और वाणिज्य अर्थात् उपजका विनिमय। आजकलकी सम्पत्ति-शास्त्रकी परिभाषामें उसे (Production) उपज या कृषि, (distribution) वितरण या गौ-रक्ष्य, और (exchange) विनिमय या वाणिज्य कह सकते हैं। आधुनिक अर्थशास्त्रके यही तीन अंग हैं, इन्हींको प्राचीन जीती-जागती अमर भाषामें 'कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्' बतलाया है। उस समय सभी लोग 'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः' अपने-अपने कर्तव्य-पालनमें निष्ठावान् थे। वैश्य अपने तीनों कर्तव्योंके पालनमें दूकानपर आकर बैठता था और 'गो' (समस्त सेन्द्रिय प्राणियों) की रक्षा या पालन करता था। उसके पास माल कहाँसे आता था ? उपजानेवाले वैश्य बिना दामके दे जाते थे, जुलाहा बजाजको कपड़े दे जाता था, किसान नाजवालोंको नाज, मसालेवालोंको मसाला, शाक-फलवालोंको शाकफल, हलवाइयोंको घी-मैदा-शकर, इस प्रकार जिस दूकानदारको जो चाहिये दे जाता था। अहीर दूध, दही, मलाई; चमार जूते; नोनिये नमक; बँसफोर टोकरियाँ पहुँचा जाते थे। दाम नहीं पाते थे, फिर किस लोभसे पहुँचाते थे ? कर्तव्यनिष्ठा। यह कर्तव्यनिष्ठा भी किसी व्यक्तिपर जोर-जबरदस्तीके कारण न थी। कोई प्राणी बिना काम किये एक क्षण भी नहीं रह सकता, यह तो स्वाभाविक बात थी और है। अपनी रोटीके लिये उस समय किसीको चिन्ता न थी, क्योंकि बिना दामके रोटी क्या सभी चीजें मिलती थीं। परन्तु बिना काम किये प्राणी जीता नहीं रह सकता था, बैठे-ठाले रहना स्वभावविरुद्ध है और था। आज तमोगुण-की प्रबलतासे आलसी और मुफ्तखोरोंकी कमी नहीं है। परन्तु उस समय सभी भले-चंगे, शुद्ध, स्वस्थ, सुखी थे। सत्त्व और रजस्‌की प्रबलता थी। हर एक व्यक्ति अपने-अपने शौकसे, उत्साहसे अपना-अपना कर्तव्य पालता था। इससे सभी कामोंमें कला थी, सौन्दर्य था। कोई विचार, कोई उच्चार और कोई आचार 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' से खाली न था। यही बात थी कि चर्मकार अपना काम सुन्दर बनाता था। जिस मनोयोगसे वह सुन्दर वस्तु तैयार करता था उसका मूल्य कैसे आँका जाता ? इसीलिये कला अपनी पराकाष्ठाको पहुँची हुई थी। जुलाहा मन लगाकर सुन्दर-से-सुन्दर, बारीक-से-बारीक, भाँति-भाँतिकी मनोहरता लाकर थान तैयार करता। दामके लिये नहीं, अपने अन्तःकरणको सुख देनेके लिये। गवैया भाँति-भाँतिके उत्तम स्वर निकालता, पैसे पैदा करनेके लिये नहीं, स्वान्तःसुखाय। कारीगर बड़े उत्तम महल बनानेमें लगा है और विचित्र ढंगसे मन लगाकर सँवार रहा है। उसपर मेट और सरदार बैठानेकी जरूरत नहीं है। वह देरमें सुचित्त होकर बनाता है। किसीको शिकायत नहीं है कि वह जल्दी हाथ क्यों नहीं चलाता, क्योंकि उसे मजदूरी नहीं लेनी है, उसे तो जरूरी चीज़ें बिना दाम दिये मिल जाती हैं। वह धीरे-धीरे इसलिये काम करता है, कि जल्दबाजीसे सौन्दर्यमें फरक आ जायगा, चीज 'उसके मनकी' न बनेगी। इस विधिसे सारा काम स्वान्तःसुखाय होता था और राम-राज्यके आरम्भके ही थोड़ेसे वर्षोंमें कला अपनी पराकाष्ठाको पहुँच चुकी थी।

तो क्या उस समय बड़ी-बड़ी या छोटी-मोटी मशीनें न थीं ? आजकलके कूपमण्डूक-बुद्धिवाले समझते हैं कि हमने प्रकृतिपर प्रभुत्व जमा लिया, यन्त्र-विद्याके शिखर-पर पहुँच गये हैं, विज्ञानके द्वारा प्रकृतिके रहस्य जान लिये हैं और विद्युत्‌को काबूमें करके शक्तिके आगारपर हमने चक्की जमा ली है। इस अहमेवपर धरतीके जरा-से

करवट बदलनेपर पानी फिर जाता है और अपनी लाचारी-की याद आ जाती है। सेतुबन्धके अवसरपर वाल्मीकिमें बड़े-बड़े यन्त्रोंद्वारा चट्टानोंका लाया जाना वर्णित है और आज भी सेतुबन्धरामेश्वरमें एक ही पत्थरमेंसे काढ़े हुए महाकाय नन्दीश्वर पर्वतोंसे सैकड़ों मीलकी दूरीपर स्थित इस बातके साक्षी हैं कि बिना महायन्त्रके इतने विशाल चट्टानका आना असम्भव है। बड़े, छोटे सभी तरहके यन्त्र उस समय भी थे। परन्तु यन्त्रोंसे वे ही काम लिये जाते थे जो मनुष्यके हाथोंसे सम्भव न था। महायन्त्रोंका स्थापन मनुस्मृतिमें उपपातकोंमें ठहराया है। ये यन्त्र मानवी कामोंके लिये न थे, दानवी कामोंके लिये थे। आजकलकी यन्त्रपद्धति मनुष्यको इन्द्रियविहीन, विलासी पशु बना देती है। रामराज्यमें इस पद्धतिकी कल्पना भी न थी। पुष्पक विमानका प्रयोग विशेष अवसरपर होता था। योगसिद्धिसे लोग स्वतः आत्यन्तिक वेगसे उड़ते थे। शतयोजन-विस्तारके सागरको हनुमान्‌जीने उड़कर पार किया था और ढाई हजार मील सजीवनबूटी लानेको चार-पाँच घण्टोंमें ही आये-गये। वियान-विमानकी आवश्यकता न पड़ी। इससे यह सिद्ध होता है कि जहाँ आजकल अपने शरीरके साधनोंको भी बेकार करके उसे निकम्मा किया जा रहा है,राम-राज्यमें शरीरोंके अङ्ग-प्रत्यङ्गकी शक्तियोंका पूर्ण विकास करके उसे सर्वतोभावेन उपयोगी बनाया जाता था। जीव, मन, वचन और कायाका सम्पूर्ण विकास होता था। भीतरी शक्तियाँ काममें आती थीं। इसीसे एक ओरसे किसी दोषका प्रवेश नहीं होता था और दूसरी ओरसे प्रसुप्त गुणोंका उजागरण होता था। आज दोषोंका निरन्तर उजागरण होता रहता है जिनके दमनके लिये डाक्टरका इलाज, पुलिस और राज्यका अङ्कुश और शिक्षण-पद्धतिका दण्ड निरन्तर काम करता रहता है।

राम-राज्यमें काम-क्रोध-लोभसे प्रेरित होकर मनुष्यकी वृत्तियाँ उस समयकी राज्यपद्धतिके विरुद्ध नहीं जाती थीं। जब देवदत्तको जीवनकी सभी आवश्यक वस्तुएँ बिना मोलके यथेच्छा सभी देशों और कालोंमें प्राप्य हैं तो वह लोभ किस बातके लिये करेगा। वह अपने घरमें महीनेभर या सालभर खानेके लिये अनाजका संग्रह क्यों करेगा और अपने घरमें खत्ती या कोठा बनाकर अन्नरक्षा करनेके उपायमें समय क्यों लगावेगा? एक कोठरी क्यों फँसावेगा? जभी जरूरत पड़ती है, जैसी इच्छा होती है तभी वैसा ही उत्तम-से-उत्तम अन्न उसे मिल जाता है। घराऊँ कपड़े रखने और रक्षा करनेका क्या काम है? बजाज और दरजी उसके लिये यह काम करते रहते हैं। देवदत्त ब्राह्मणको पठन-पाठन, यजन-याजन, दान-प्रतिग्रह यही काम रहे। यह कहो कि प्रतिग्रह क्यों करता है, उसकी आवश्यक सम्पत्ति तो वैश्योंके पास है ही? तो प्रतिग्रह करता है, तो दान भी कर देता है। यह लेन-देन उसका धर्म है, कर्त्तव्य है। उसे इन छः कर्त्तव्योंके पालनमें आनन्द आता है।

बलवन्त क्षत्रिय भी पढ़ने, यज्ञ करने और दान देनेमें अपने अन्तःकरणको सुखी मानता है और चारों वर्णोंकी रक्षा करनेमें लगा रहता है। स्वभावसे ही उसे यह काम रुचता है। राम-राज्यमें वैसे तो कोई विपत्ति आती ही नहीं, चोर-बटपार लगते ही नहीं, घरमें ताला लगानेकी जरूरत ही नहीं, क्योंकि सभी भरेपूरे रँजे-पुँजे सन्तुष्ट हैं। फिर भी उसका तो कर्त्तव्य है रक्षा करना। वह रक्षा करने-की कलाके विकासमें लगा हुआ है। रोगोंसे, हिंस्र-प्राणियों-से, दैवी तापोंसे किस-किस विधिसे रक्षा सम्भव है, इसके आविष्कारमें, खोजमें ही वह व्यस्त रहता है। इसीमें उसका सामर्थ्य है, ईश्वरभाव है। देव, गुरु, विद्वान्‌की पूजा, शौच, आर्जव तो उसके लिये स्वाभाविक है। उसके लिये भी अपने घरमें अन्न-वस्त्रके संग्रहकी आवश्यकता नहीं है। उसकी जरूरतकी चीजोंका भण्डार तो बाजार है, वैश्य भाई हैं।

वैश्योंको भी किसी तरहके परिग्रह या संग्रहकी आवश्यकता नहीं है। जो नाजवाले अपने भण्डारोंमें अन्न-संग्रह रखते हैं वे तो लोक-हितार्थ रखते हैं। अपने खानेको भी उसमेंसे ही लेते हैं सही, परन्तु वह तो एक गौण बात है। नाजवाला अपने यहाँ और वस्तुओंका संग्रह नहीं रखता। जो उपजानेवाले वैश्य हैं वह तो माल उपजाकर संग्रहार्थियोंको दे आते हैं। अपनी जरूरतें तो वह उसी तरह पूरी करते हैं जैसे और वर्णोंके लोग। गार्हस्थ्य-धर्मकी पूर्त्तिमें वैश्य भी दान, पठन और यजन विधिवत् करता रहता है; देव, गुरु, विद्वान्‌की पूजा करता रहता है। शौच, आर्जव आदि गुण तो उसके लिये स्वाभाविक हैं।

जब बिना दाम दिये खाना-कपड़ा और दूसरी जरूरी चीज़ें मिल ही जाती हैं, तब हरवाह क्यों हर जोतने, हेंगा चलाने, पुर हाँकनेका कठिन काम करने लगा? आजकल-

के जमानेमें यह शङ्का स्वाभाविक लगती है। परन्तु राम-राज्यमें सभी अपने-अपने कार्मोमें लगे रहते थे। जिस तरह व्यायाम करनेवाले अपने शौकसे मेहनत करते हैं, अखाड़ेमें घोर परिश्रम करनेके लिये उन्हें कोई मजूरी नहीं देता और न उन्हें मजूरीके लालच या आवश्यकताके कारण ही कसरत करनेकी जरूरत होती है, ठीक उसी तरह-से हरवाहेको अपने मनबहलावके लिये, व्यायामके शौकसे, हल, हेंगा चलानेकी जरूरत होती थी। उसे किसी प्रकारका लोभ प्रवर्त्तक न था। श्रमी या मजूरा परिचर्या या सेवाका काम अपने शौकसे करता था, उसे परिचर्यामें रस आता था, वह खोज-खोजकर परिचर्यामें लगता था, किसीको मजूरा खोजनेकी जरूरत न थी। कोई मजूरेको मजूरी देता था तो वह लेनेको तैयार न था। क्यों ले, उसे जरूरत ही क्या थी? यह विचित्र पद्धति चारों वर्णोंमें वर्त्त रही थी। इसी तरह भोजनका प्रबन्ध करना गृहस्थका काम था। ब्रह्मचारी, वनवासी और संन्यासी सभी अपना-अपना भोजन गृहस्थसे पाते थे। गृहस्थके यहाँ रसोई उसके या उसके परिवारके लिये ही नहीं बनती थी। हर गृहस्थका कर्त्तव्य था और उसे इस बातका बेहद शौक था कि वह अपनी रसोईमें अतिथियों, ब्राह्मणों, बटुओं और यतियोंको खिलावे और उदासीनोंके आश्रमोंमें उनके लिये आवश्यक सामग्री पहुँचावे। अपने पशुओं, पक्षियों, प्रेतों, पितरों और देवादि सभी आश्रितोंको सब तरहसे आप्यायित करे। उसके पास उत्साह-पूर्तिके सभी साधन उपलब्ध थे, किसी तरहकी कमी न थी। इस उत्साहके काममें आज भी जो कठिनाइयाँ हैं उनके बड़े कारण स्वार्थ और दारिद्र्य हैं। परन्तु उस समय प्राचुर्य था, उत्साह था, जीवन था, सामर्थ्य था, शील था, प्रेम था और सबसे बड़ी बात थी अनासक्त कर्त्तव्य-बुद्धि।

आज संसारमें घोर विच्छृङ्खलताका राज्य है। मनुष्यताका घोर पतन हो गया है। नीच स्वार्थ-बुद्धि इन दिनों प्रबल हो गयी। भाई भाईका खून चूस रहा, धन दुह रहा है, अपना हितू कोई नहीं है, सब स्वार्थपरायण हो रहे हैं। इसी एक स्वार्थके संघर्षके अनेक नाम बन गये हैं, साम्राज्यवाद, समाजवाद, व्यष्टिवाद, समष्टिवाद, प्रजातन्त्रवाद, वर्गवाद, श्रमिकवाद, सामाजिक लोकतन्त्रवाद, शक्तिवाद इत्यादि इतने वाद हैं कि सूची पूरी नहीं हो सकती। एक कहता है कि व्यक्तिकी स्वतन्त्रता अविच्छिन्न होनी चाहिये। दूसरा कहता है कि व्यक्तिके अपने अधिकार कुछ नहीं हैं, समाजतन्त्रमें शासनयन्त्र ही समस्त सम्पत्तिका स्वामी है। परन्तु राम-राज्यमें एक ही व्यक्ति सविवेक अखिल विश्वका स्वामी था। सब सम्पत्ति समाजकी थी। स्वामीका काम नियमन था। समाज विवेकके साथ उपजाता, बाँटता और विनिमय करता था। स्वार्थका कहीं काम न था। प्रेम और परार्थका राज्य था। व्यक्ति-स्वातन्त्र्यका कोई प्रश्न न था क्योंकि समाजरूपी महायन्त्रका प्रत्येक व्यक्ति एक पुरजा था, समाज-पुरुषकी देहका प्रत्येक व्यक्ति अविच्छिन्न जीवाणु था, अनिवार्य कण था। सम्राट् आत्मा था, एकमात्र चेतन था, समस्त विश्व उसका शरीर था। शरीरके कणोंकी अलग-अलग न तो कोई सत्ता थी, न हो सकती थी। इस विश्वराज्यका मुखिया ही विश्व-शरीरका मुख था—

मुखिया मुख सों चाहिये, खानपानको एक।
पालै पोषै सकल अँग, 'तुलसी' सहित विवेक॥
राजधर्म सर्बस इतनोई। जिमि मन माहिं मनोरथ गोई॥

आजका साम्यवाद राम-राज्यके ढँगोंका अनुकरण करना तो चाहता है परन्तु व्यक्तियोंके सम्मुख आदर्श रखनेवाले और पालन करानेवाले किसी पुरुषोत्तमको वह अभीतक जन्मा न पाया, इसीलिये साम्यवादसे ऊपरी ढँग-ढाँचा तो बनता है परन्तु भीतरसे व्यक्तियोंका विकास होनेकी किसी बादमें सम्भावना नहीं है। वह मूर्त्ति बना सकता है परन्तु उसकी प्राण-प्रतिष्ठा नहीं कर सकता, उसमें जान नहीं डाल सकता।

राम-राज्य विराट् पुरुष था, चारों वर्ण, चारों आश्रम उसके अङ्ग-अङ्ग थे। अङ्गोंमें परस्पर सहकारिता थी, सबमें एक ही चेतना थी। परस्पर प्रेमका भाव विकास पाकर एकता और सर्वाङ्गैक चेतनामें परिणत हो गया था। यह केवल मानव-समुदायमें न था। मानवेतर प्राणियोंमें कीट-पतङ्गसे लेकर ब्रह्मातक यही एकताका भाव व्यापक था। सारी प्रकृति पुरुषसे मिलकर एक हो गयी थी। प्रकृतिमात्र देह थी। भगवान् उसकी आत्मा थे। अखिल विश्वकी विभूतिके रूपमें प्रकृतिने दुलहिनका रूप सँवारा था, और मानुषरूपधारी साक्षात् स्वयं परमात्मा उसका मन-चीता वर था। ग्यारह हजार वर्षका अखण्ड अनुपम आदर्श राज्य दोनोंकी आदर्श रासलीला थी। इस रङ्गभूमिमें प्राणिमात्र भाँति-भाँतिके अभिनयमें तल्लीन थे। और मुख्य अभिनेता मानवसमुदाय था। मनुष्य सब प्राणियोंमें श्रेष्ठ हो गया था क्योंकि मर्यादापुरुषोत्तम भगवान्ने विश्वके सर्वोच्च आदर्शकी अभिव्यक्तिके लिये इसी मनुष्यदेहको अपनाया था।

सब तें अधिक मनुज मोहिं भाये।

रज-कण

(लेखक—श्री 'माधव')

एक दिन भी, एक क्षणके लिये भी यह स्वप्न टूट जाता ! एक पलके लिये भी यह समझ पाता कि यह सब-कुछ सपनेकी सम्पत्ति है—एक बार हृदयकी काई धुल जाती, पापोंके दाग मिट जाते ! एक बार भी हृदयकी निर्मल निर्झरिणीमें तुम्हारा प्रतिबिम्ब देख पाता ! पर मनकी चञ्चल लहरें हृदयके वास्तविक सौन्दर्यको नष्ट कर देती हैं और हृदयपर उतरी हुई तुम्हारी तस्वीरको बिगाड़ देती हैं। मैंने कई बार साहस बाँधा, कई बार पूरी शक्ति लगाकर मनकी लहरोंको बाँधा परन्तु......अचानक जोरोंकी बाढ़ उमड़ आती है; विश्वका कोलाहल प्रतिध्वनित हो उठता है—मन तो स्वतः डवाँडोल है ही, हृदयकी पवित्रतापर भी कालिख पोत देता है। लाचार होकर अपनी हार अपनी आँखों देखनी पड़ती है ! यह है नित्यका आन्तरिक द्वन्द्व। कैसे पहुँचूँ तुम्हारे चरणोंकी छायामें ?

× × × ×

फिर भी तुम्हारे पथमें चलनेका प्रलोभन रोका नहीं जाता। त्रुटियों, अपराधों और पापोंका यह दुर्बल पुतला तुम्हारे दिव्य तेजःपुञ्जकी ओर आकृष्ट तो हो ही गया है और साधन-हीन होते हुए भी तुम्हें पानेकी अभिलाषा हृदयमें प्रतिपल बढ़ती जाती है ! हृदयकी इस प्यासको मिटानेके लिये विश्वकी विविध विभूतियाँ आयीं, संसारके अनेक प्रलोभन आये—परन्तु जीकी कचट न मिटी, हृदयकी ज्वाला शान्त न हुई, अब तो कुछ ऐसा हो गया है कि इस उफानमें ही जीवनका सत्व प्रविष्ट हो गया है। संसारके इस बाह्य-फेनिस रूपपर आँखें टिकती ही नहीं—तुम्हें ही देखनेके लिये व्याकुल आँखें तुम्हारी प्यासमें ही तड़फड़ा रही हैं।

× × × ×

ये सब-कुछ भुलावेमें डालनेके लिये हैं ! ऐसा प्रतीत होता है मानो हमें पथ-भ्रष्ट करनेके लिये ही प्रकृतिने इतने लुभावने रूप धारण किये हैं—ये नाना प्रकारके इन्द्रजाल रच डाले हैं। प्रातःकाल उषा आती है, लाल रेशमी साड़ी पहनकर जिसकी किनारीपर सोनेकी झिलमिल-झिलमिल आभा छिटकी रहती है, वह आकर्षण और मधुका प्याला हाथमें लिये आती है, उसके अधरोंपर अरुणिमाका साम्राज्य है, आँखोंमें बेहोश कर देनेवाला जादू !! अपने समस्त वैभव और आकर्षणको बिखेरकर जब गङ्गाकी लहरोंपर खेलने लगती है—जब समस्त विश्व उसकी प्रेम-मदिरामें बेसुध होने लगता है, उस समय मेरी ये ललचायी आँखें भी प्रेमके इस विराट् समारोहको देखकर, सौन्दर्यकी इस स्वर्गीय क्रीड़ाको देखकर कुछ अलसायी-सी, कुछ जगी-सी ऊपर उठती हैं और हृदयसे सहज ही एक प्रश्न उठता है—सखि ! यह शृङ्गार, यह रूप-सम्भार किसके लिये ? किसकी खोजमें बावरी-सी आकाश-पाताल एक किये जा रही हो; सारे संसारमें अपने प्रेमकी खुमारी बिखेरकर कहाँ किसकी खोजमें अनन्तकालसे पागल हो ? न पाकर लजाकर गुपचुप भाग जाती हो—फिर खोजकी खोज ?

× × × ×

चन्द्रमा और तारोंका दीप जलाकर नीली चादर ओढ़े रजनी वन-पर्वत-समुद्र सर्वत्र तुम्हारी खोजमें है। सूर्यकी प्रखर ज्योतिमें दिन तुम्हें खोज रहा है। सूर्य, चन्द्रमा और ग्रह-नक्षत्रोंकी बत्ती लेकर समय अपने जन्मसे ही तुम्हारी खोजमें विह्वल-सा लड़खड़ा रहा है। यह हवा भी उस 'रूप-हीन' की खोजमें स्वयं अरूप होकर पता नहीं कहाँ-कहाँ टकराया करती है ! समुद्र

अपनी सारी गम्भीरता, सारा ऐश्वर्य भुलाकर पूनोकी रातमें एक बार ऊपर उठता है, अपनी सारी लहरों, उद्वेगों, कामनाओंको लेकर ऊपर उठता है पर अपने प्राणवल्लभको छू न सकनेके कारण उसका हृदय बैठ जाता है ! चन्द्रमाकी कोमल किरणोंके सहारे ऊपर चढ़कर 'साजन' की मूर्ति देखनेके लिये इस नादान सागरका तुच्छ प्रयत्न ? जो सहस्र-सहस्र नदियोंके मिलनेपर भी अपना गौरव क्षुब्ध नहीं होने देता, जो एक क्षणके लिये भी यों चञ्चल नहीं होता·······वही आतुर समुद्र प्रेममें पागल होकर किसके चरणोंको चूमनेके लिये ऊपर उठता है ?

× × × ×

खोजकी कोई 'इति' नहीं। खोज 'समर्पण' के महासागरमें प्रवेशकर अपने आराध्य देवमें लय हो जाती है। उस समय 'मैं' 'तुम'में मिल जाता है, मिट जाता है। उस समय 'तुम-ही-तुम' रह जाता है। 'मैं'-जैसी कोई वस्तु रह नहीं जाती। बर्फ गलकर पानी ही हो जाता है—पानीसे ही निकला था पानीमें ही मिट जाता है। नदियाँ समुद्रमें जाकर अपना नाम और रूप गँवा देती हैं।

'मैं' भी तुमसे ही निकला हूँ और प्रतिपल तुममें प्रवेश कर रहा हूँ। विश्वकी अतुल शोभा और मादकता मुझे सतत तुम्हारे ही पथमें चलते रहनेको प्रोत्साहित करती है। खोजना ही पाना है। पानेका ही दूसरा नाम खोज है। खोजमें ही तुम्हारी मधुर छवि चहकती रहती है। तुम्हें 'अपना' कहकर तुम्हारे पथमें चलना—पहाड़ोंसे टकराना, कँटीले जङ्गलोंसे लड़खड़ाना ही साधना है—गिरना, गिरकर उठना और फिर शान्तरूपमें तुम्हारे पथमें चलना—बस, यही मनुष्यके हिस्से पड़ा है।

× × × ×

बस चलना-ही-चलना है—खोजना-ही-खोजना है ! खोजमें मिटा देना ही उत्कृष्ट साधना है। जीवनकी मन्दाकिनी बहती चले, भावनाकी गङ्गा बहती रहे—साधनाका प्रवाह चलता चले—उसके तटपर हरिद्वार आवे, प्रयाग आवे, काशी आवे तो भी अच्छा, श्मशान आवे, विस्तृत मरु-भूमि आवे, मनोहर वनस्थली आवे अथवा उजड़ा हुआ लोक आवे—सब ही अच्छा !! एक झलक लेकर आगे बढ़ना है। कहीं तो 'हर हर महादेव शम्भो काशी विश्वनाथ गङ्गा' की तुमुल आह्लादकारी ध्वनि सुन पड़ेगी और कहीं 'राम नाम सत्य है' की कोमल करुण आर्त्त चीत्कार। जीवन-गङ्गाके लिये तो दोनों समान ही हैं न। शवकी राख या पूजाके पुष्पमें भेद ही क्या है ? सब कुछ तो 'समर्पण' ही है !

× × × ×

हाँ जीवनकी गङ्गाकी गति न रुके, न रुके, न रुके। पहाड़ोंको काटकर, मरु-भूमिको चीरकर, वनस्थली और तीर्थ-स्थानोंमें बिना विरमे हुए यह बहती चले। तीरपरकी वस्तुएँ धाराको भी कैसे लुभा सकती हैं ? तीर तीर ही है, धारा धारा ही। तटकी शोभा भी तो धाराके कारण है। बालू कुरेदकर जल देनेसे ही फल्गू फल्गू बनी हुई है, नहीं तो वह बस स्मृतिकी वस्तु रह जाती ! गङ्गा भी चिताकी राख और पूजाके पुष्प-दीपसे अन्यमनस्क होकर, निर्विकाररूपमें बहती चली जाती है। वह लेकर क्या करेगी ? उसका तो व्रत ही देना, बस देना और फिर भी देना ही है। यमुना और सरयूको भी वह साथ लेकर उलीचनेके लिये ही आगे बढ़ती है—अपनेको सम्पूर्ण वायु-मण्डल, समस्त हित-नातके साथ समर्पित करनेके लिये ही आगे बढ़ती है ! वह बढ़ती है—और जब—अह ! वह भी एक दृश्य ही है—जब गङ्गा शत-शत धाराओंमें विह्वल होकर पागलकी

भाँति समुद्रकी ओर टूटती है ! समर्पणकी तीव्र ज्वाला जो अपने भीतर हिमालयसे छिपाये आ रही थी—फूट पड़ी—कोटि-कोटि धाराओंमें हृदयसे फूट बही—और वहाँ सागरके गर्भमें समाकर गङ्गा अपना नाम और रूप खो देती है, समर्पित कर देती है ! उसके बाद कहाँ है गङ्गा और कहाँ है सागर ?

× × × ×

कहाँ जाऊँ, कैसे खोजूँ ? किन-किन रूपोंमें, किस-किस वेशमें, कहाँ-कहाँ खोजूँ ! खोजका अभिमान भी प्राणोंके संस्कारके साथ लिपटा चला आता है। 'जिन खोजा तिन पाइयाँ' तो कोरी कथकड़ी है। कहाँकी खोज, और किसे पाना ? सबमें रमता हुआ, सर्वत्र ओत-प्रोत भला खोजका विषय है ? यह खोज-की धुन भी तो अहङ्कारका ही विकार है। आज मैंने इस खोजके अभिमानको भी दूरकर, निरावरण होकर, सर्वशून्य होकर आँखे बन्द कर ली हैं—आज यहीं और अभी, बिना खोजके और बिना एक पलके विलम्बके तुम्हें आलिङ्गनके पाशमें बाँध लेना है। आज समुद्र ही स्वयं सरिताको अपनी अनन्ततामें मिलानेके लिये खोजका लम्बा रेतीला पथ पारकर आयेगा—आज स्वयं तुम्हें ही अपने पैरों चलकर मेरी भुज-लताओंमें बँध जाना पड़ेगा—बस, इसी हठमें मैंने खोजना छोड़कर आँखें बन्द कर ली हैं !

× × × ×

ये शब्द-ही-शब्द हैं। मैं इन शब्दोंमें वैसे ही उलझ गया हूँ जैसे मकड़ी अपने बुने हुए जालमें। स्वप्नके बाद स्वप्न। प्रवाह टूटता ही नहीं—गति रुकती ही नहीं। इच्छाओंकी कहीं 'इति' भी है ? एक पूरी हुई नहीं कि दूसरी शुरू हो जाती है और तीसरीकी धुँधली छाया दीखने लगती है। इच्छाओंके इस ड्योढ़े-दुहरे प्रवाहमें जीवनका वास्तविक ध्येय पता नहीं कहाँ लुप्त हो गया है। भूले-भटके जो कभी तुम्हारी याद आ भी जाती थी—वह भी अब न रही। कभी तुम इस हृदयके वृन्दावनमें भी आये थे—कभी रास छिड़ी थी, कभी मुरली बजी थी—ऐसा विश्वास नहीं होता। अब तो सूनी निर्जन मरुभूमि है और उसमें इच्छाओंकी मृग-मरीचिका। आँख मूँदकर इन किरणोंमें, इस उत्तप्त लूमें जलकी आशासे दौड़ा जा रहा हूँ। कहाँका जल, कहाँकी तृप्ति ? आज आँखोंपरकी पट्टी खोल दो ! आज हृदयका तिमिर अपनी किरण-मालासे मिटा दो जिसमें सर्वत्र ज्योति-ज्योति, सर्वत्र तुम्हारा रूप-ही-रूप, सर्वत्र तुम्हीं-तुम दिखो। इसके आगे चाहना ही क्या है ?

मनको उपदेश

(श्रीसमर्थ रामदासजीके 'मनाचे श्लोक' का अनुवाद)

(अनुवादक—कृष्णसुत)

[गताङ्कसे आगे]

१३५–हे मन, सत्सङ्ग कर, इससे दुर्जनकी मति भी बदल जाती है। इसके प्रभावसे बुद्धि और भावनाएँ दोनों सन्मार्गगामिनी होती हैं। वह महाक्रूर विकराल कालका भी उन्मीलन कर देती है।

१३६–भयसे सब ब्रह्माण्ड व्याप्त है; जो उसके परे है और जिसके दर्शनसे भयका नाश और द्वैतका अभाव होता है, उसका आनन्द सन्त ही लूटते हैं।

१३७–श्रेष्ठ साधु-सन्त जीवोंके उद्धारार्थ स्पष्ट सत्य कह चुके हैं, फिर भी जीव अज्ञानी ही रहा। मिथ्या देह-बुद्धिसे जबतक असत्य कर्मोंका नाश नहीं होता तबतक ज्ञानरूपी सनातन भण्डार हाथ नहीं लगता।

१३८–गड़ा हुआ धन पास होनेपर भी विस्मृतिके कारण प्राप्त न होनेसे जैसे निर्धनताका कारण होता है। वैसे ही जिसको अहंकारसे आत्मस्वरूपका निश्चय नहीं होता, उसको ज्ञानरूपी सनातन भण्डार हाथ नहीं लगता।

१३९–आगे देखो तो आत्मरूपी धन सब ओर भरा है, किन्तु अभागेको सब पत्थर ही दिखायी देते हैं। अश्रद्धा-से किसी पुण्यकी प्राप्ति नहीं होती और सनातन भण्डार भी हाथ नहीं लगता।

१४०–आत्मधन अपने पास होते हुए भी अप्राप्त है। त्रिगुणमयी मायाके बन्धनसे देह-दुःख भुगतना पड़ता है। मनोवृत्तियाँ भी मायाके बाहर नहीं जातीं। और अहंकारके कारण आत्मधन प्राप्त नहीं होता।

१४१–श्रीसमर्थ रामदास कहते हैं कि अहंकारके कारण अप्राप्त रहनेवाला यह आत्मधन सद्गुरुके कृपारूपी अञ्जनके बिना नहीं मिलता। अतएव ऐसे ज्ञानी सद्गुरु-की शरण जा, तब वह सहज ही प्राप्त हो जायगा।

१४२–जबतक अहंकार और संशय इन दोनोंका नाश नहीं होता, तबतक हठ करनेसे इसकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

१४३–अविद्याके कारण लोगोंको इसका भान नहीं होता। भ्रमवश हित भी नहीं समझते। बिना परीक्षा किये ही मनुष्य मिथ्याको सत्य मानकर चलता है। किन्तु सत्यको मिथ्या कौन कह सकता है?

१४४–जगत्‌में सत्य क्या है इसकी आदरपूर्वक खोज कर, ऐसा करते-करते भगवान्‌के दर्शन हो जायँगे। फिर अज्ञानादि भ्रमोंका नाश हो जायगा।

१४५–जन्मान्तरसे प्राणी विषय-चिन्तन करता चला आ रहा है। अज्ञान और अहंभावमें इसका जन्म हुआ। विवेकसे आत्मस्वरूपमें लीन हो जा, क्योंकि ब्रह्मभूत होनेके बाद जीवका पुनर्जन्म नहीं है।

१४६–हे मन! आँखोंको दीखनेवाला तथा अदृश्य जगत् कोटि कल्पतक रहनेवाला नहीं। जिसके आकार है वह सभी काल-वश होगा। भविष्यमें कुछ भी रहनेवाला नहीं है। अतएव जो अनन्त और शाश्वत है, उसीकी खोज कर।

१४७–जो फूटता नहीं, टूटता नहीं, चलता नहीं, हिलता नहीं, जो सब ओर भरा हुआ है पर समझमें नहीं आता, और जो अद्वितीय है उस एकरूप ब्रह्मको ढूँढ़ और उसका दर्शन प्राप्त कर।

१४८–हे मन! जो निराकार है, जो ब्रह्मादिका आधार है, जिसका वर्णन करते-करते वेद भी थक गये, उसको ढूँढ़कर उसके साथ विवेकसे तद्रूप हो जा।

१४९–हे मन! जो चर्मचक्षुसे नहीं दीखता, जहाँ ज्ञान-चक्षु भी काम नहीं देते, देखते ही द्रष्टा, दृश्य और दर्शन एक हो जाता है उस अनन्त और शाश्वतकी खोज कर।

१५०–जो पीला, सफेद, श्याम या नीला नहीं है, जो न व्यक्त है, न अव्यक्त है किन्तु जिसपर विश्वास रखनेसे मानव मुक्ति पाता है उस अनन्त शाश्वत परब्रह्मकी खोज कर।

१५१–प्रेमपूर्वक साधु-सन्तोंकी शरण लेनेसे, सर्वदा निश्चयपूर्वक सत्यकी खोज करनेसे और मनको बोध करनेसे ज्ञान-प्राप्ति होती है।

१५२—हे मन, कोरे शब्द-ज्ञान तथा कौशलसे काम नहीं चलता। अन्तरमें उसका निश्चय होना चाहिये। सबमें व्याप्त रहनेवाले सारका संकलन कर।

१५३—शरीर-ज्ञान, तत्त्व-ज्ञान, गायनवादनादि-ज्ञान, अष्टाङ्गयोगसाधन, यज्ञ-याग, भोगोंका त्याग आदि साधनोंसे सच्चा समाधान नहीं होता। वह तो सत्समागममें ही होता है।

१५४—सन्त-समागम करके सन्तोंके मुखसे महावाक्य, तत्त्व-ज्ञान, सृष्टि-ज्ञान आदिका श्रवण करना चाहिये। द्वितीयाका चन्द्रमा न दीखता हो तो उसको कुछ सङ्केतसे ही बतलाया जाता है।

१५५—जगत्में जो दिखायी नहीं देता, उसीको ढूँढ़-कर देख। अच्छी तरहसे देखनेपर वह गुह्य-तत्त्व व्यक्त हो जाता है। हाथसे पकड़ने जायँ तो नहीं मिलता और जगत्में व्याप्त होता हुआ भी ध्यानमें नहीं आता।

१५६—'उसको मैं जानता हूँ' ऐसा कहनेवालेको मूर्ख समझो। जो तर्कके परे है उसको तर्कसे कोई कैसे जान सकता है? देखनेसे अहङ्कारके कारण वह दिखायी नहीं देता। उसके दर्शनके बाद मनुष्य उससे भिन्न नहीं रह सकता।

१५७—खोजके निमित्त शास्त्र बहुत-से हैं, किन्तु उनमें एकवाक्यता नहीं पायी जाती। परस्परविरोधी शास्त्र-ज्ञानसे मताभिमानी लोग झगड़ते हैं किन्तु सच्चे ज्ञानका अनुभव होते ही मनकी गति कुण्ठित हो जाती है।

१५८—हे मन! अहङ्कार छोड़ दे। उपनिषद्, न्यायशास्त्र, तर्कशास्त्र, स्मृति, वेद-वेदान्त आदिके वचन परस्परविरोधी हैं, शेषने भी मौन धारण किया है।

१५९—जिसने अहङ्कारकी मक्षिका भक्षण कर ली है, उसको भोजनकी रुचि कहाँसे हो? जबतक चित्तका अहंभाव नष्ट नहीं होता, तबतक ज्ञान अन्तःकरणमें स्थिर नहीं हो सकता।

१६०—हे मन! खेद उत्पन्न करनेवाले वाद-विवादको छोड़; उनके भेद चित्तको विचलित करते हैं, उन्हें छोड़। तेरे पास जो अहंभाव है उसकी शिक्षा भविष्यमें उत्पन्न होनेवाले जीवोंको मत दे।

१६१—अहङ्कारसे सब ओर दुःख ही होता है, ज्ञानोपदेश भी व्यर्थ जाता है। सुखी रहनेसे सब सुखमय है।

१६२—अहङ्कारसे ज्ञानी भी नीति-भ्रष्ट हो जाते हैं। अनीतिसे अपकीर्ति होती है, ज्ञानके कारण वह मनमें खूब समझता है कि अपना व्यवहार अप्रामाणिक है।

१६३—स्वयं देह है यह निश्चय दृढ़ हो गया, देहातीत आत्माके हितकारक ज्ञानसे वञ्चित रहा। देहके स्थानमें अपना आत्मा है यह निश्चय होना चाहिये, सर्वदा सज्जनोंकी सङ्गति रख।

१६४—मन जिन विषयोंका चिन्तन करता है उन्हें त्याग दे। मनमें उठते ही कल्पनाका त्याग कर मनसे निर्गुण परब्रह्मको जान। सर्वदा सज्जनोंका सङ्ग रख।

१६५—देह-पुत्रादिके चिन्तनसे मनमें लोभ दृढ़तर होता है। हरि-चिन्तनसे मुक्तिरूपी स्त्रीका पाणिग्रहण कर। सर्वदा सन्त-समागम कर।

१६६—देहके अहङ्कारसे स्त्री-पुत्र-मित्रादिका मोह वृद्धि पाता है, बलात् उसका त्याग कर जन्म-मरणकी चिन्तासे मुक्त हो। सर्वदा सन्त-समागम कर।

१६७—अज्ञानजन्य 'मैं देह हूँ' इस सन्देहको निवृत्त कर, 'अहं ब्रह्मास्मि' का निश्चयात्मक अनुभव कर। जीवनकी हर एक घड़ीको सार्थक कर। सर्वदा सन्त-समागम कर।

१६८—अपनी मनोवृत्तिको जो सत्स्वरूपमें स्थिर करता है, तथा आशा-पाशसे मुक्त होनेके कारण जो दीन नहीं है, वही सच्चा सन्त है। उपाधि देहात्म-बुद्धिको बढ़ाती है किन्तु वह सज्जनोंको कैसे बाधा पहुँचायगी?

१६९—अनन्त शुद्धस्वरूप ब्रह्मका ज्ञान सन्तोंसे ले। अहङ्कारके प्रापञ्चिक विस्तारका निराकरण कर। देहात्म-बुद्धि न रखते हुए निर्गुण परब्रह्मका चिन्तन करना चाहिये।

१७०—देह-बुद्धिका ज्ञानसे त्याग कर। विवेकसे परब्रह्मकी प्राप्ति कर। वृत्ति सदा तदाकार नहीं रहती अतएव उसीका चिन्तन करता रह।

१७१—सारभूत सत्य ब्रह्म गुह्य है, चर्म-चक्षुसे दृश्याभास-मात्र होता है आभाससहित निर्गुण ब्रह्मका इससे आकलन नहीं होता। अहङ्कार रहते कभी उसकी कल्पना नहीं हो सकती।

१७२—विषयानुगामी कल्पना अविद्या है। ब्रह्मानुगामी कल्पना सुविद्या माया है। मूलमें एक ही दो रूपमें प्रकट है। विवेकसे एक दूसरीमें विलीन हो जाती है।

१७३–ब्रह्मरूप आकाशमें राहुरूपी अहङ्कारने उत्पन्न होकर सर्व आकाशको व्याप्त कर लिया। दिशाएँ देखें तो सभी ओर अन्धकार-ही-अन्धकार है। विवेकसे परब्रह्मकी प्राप्ति कर ले।

१७४–चर्म-चक्षुसे दिखायी नहीं देता। काल संसारका भक्षक है उससे इसकी रक्षा कदापि नहीं हो सकती। जो अक्षय है वह शाश्वत मोक्षकी प्राप्ति कराता है। दयाशील भगवान् स्वयं सहायता करता है।

१७५–ब्रह्मा सृष्टिकी रचना करता है और मानवोंके भाल-प्रदेशपर उनका भविष्य लिखता है, किन्तु ब्रह्माके भाल-प्रदेशपर कौन लिखता है ? संहारकालमें शङ्कर भगवान् सबका नाश करते हैं किन्तु शङ्कर भगवान्‌को अन्तर्धान करनेवाला कौन है ?

१७६–जगत्‌में बारह आदित्य, ग्यारह रुद्र और इन्द्र तो अगणित हैं। इन सबका जो स्वामी है वह बहुत ढूँढ़नेपर भी नहीं मिलता।

१७७–ईश्वर कभी टूटता नहीं, फूटता नहीं, हिलता नहीं, चलता नहीं, कभी दीन नहीं होता, आँखोंसे दीखता नहीं और अहङ्कारसे तो कभी दीखेगा ही नहीं।

१७८–जिसको ईश्वरका जो स्वरूप रुचिकर मालूम होता है, वह उसीका पद-पूजनार्चनादि करता है किन्तु सत्यदेवको कोई भी कभी नहीं ढूँढ़ता। जगत्‌में अनेक कोटि देवता हैं। जिसको देवताका जो स्वरूप जँचता है वह उसीकी भक्तिको श्रेष्ठ मानता है।

१७९–जिससे त्रिलोकीकी उत्पत्ति हुई उसको कोई नहीं जानता। सर्वश्रेष्ठ भगवान् अदृश्य है, वह विना गुरु-कृपाके नहीं दीखता।

१८०–बड़े शक्तिशाली और मन्त्र देनेवाले बहुश्रुत गुरु चाहिये जितने मिलेंगे, मनमें द्रव्यका लोभ रखकर बहुत-से मन्त्र-तन्त्र बतलानेवाले ही मिलेंगे, इनमेंसे कोई भी मुक्ति-मार्ग बतलानेवाला नहीं होता।

१८१–मान्त्रिक, फँसानेवाला, द्रव्याभिलाषी, निन्दा और मत्सर करनेवाला, भक्तिहीन, उन्मत्त, व्यसनी और जिसकी सङ्गतिसे अहित होता है ये सब झूठे हैं। जो सच्चा ज्ञानी है वही साधु है।

१८२–वृथा बात करनेवाला, मनमें इच्छा रखनेवाला, कर्महीन, वाचाल वास्तविक गुरु नहीं है। जैसा कहता है वैसा ही आचरण करनेवाला साधु सच्चा है। हे मन! इसे विचारकर देख।

१८३–भक्ति-ज्ञान-वैराग्ययुक्त, दयाशील, जितेन्द्रिय, क्षमावन्त, योगी, सर्वश्रेष्ठ, दक्ष, कुशल गुरुके सान्निध्यसे समाधान प्राप्त होता है।

१८४–साधु-मुखसे असत्यका सारस्वरूप सत्य तथा अज्ञानका सारस्वरूप ज्ञान प्राप्त होता है, अनिर्वचनीय होते हुए भी उसकी चर्चा करनेकी इच्छा होती है। हे मन! ऐसे परब्रह्मकी तू खोज कर।

१८५–भयातीत और चिन्तारहित आत्मरूप रामरूपमें लीन हो। जगत्‌में वह दिखायी नहीं देता है, क्योंकि जहाँ द्वैत भाव नहीं है वहाँ वही है।

१८६–हे मन! खोज करनेसे ज्ञान होगा कि राम सदा ही साथ है। रामकी और तेरी अखण्ड एकरूपता है किन्तु अहङ्कार छोड़नेसे इसका भान होगा।

१८७–पञ्चमहाभूत और पाञ्चभौतिक देहकी एकरूपता है किन्तु सत्स्वरूप इन सबसे अतीत है। इस दृश्यभूत संसारको देखो, किन्तु इसमें आसक्तिरहित जीवन व्यतीत कर सुखसे रहो।

१८८–ज्ञान-खड्‌गसे 'मैं देह हूँ' इस कल्पनाका छेदन कर और विदेहस्थितिमें भक्ति-मार्गका सेवन कर। जो कुछ निन्द्य है उसका विरक्तिके बलसे त्याग कर और आसक्तिरहित सुखमें जीवन व्यतीत कर।

१८९–स्रष्टा उत्पन्न करनेवाले परमेश्वरको जान ले। उसके दर्शनमात्रसे मुक्ति प्राप्त होती है। उसी परब्रह्मरूपको सगुणरूपमें देख और सर्वसङ्गरहित स्थितिमें रह।

१९०–परब्रह्म न स्रष्टा है न भर्ता है, वह परा वाणीके परे और मायासे रहित है। उसी निर्विकारका विचार कर और सर्वसङ्गरहित स्थितिमें रह।

१९१–जिसकी देह-बुद्धि नहीं छूटती उसको कल्पके अन्ततक भी ज्ञानकी प्राप्ति दुर्लभ है। अहङ्कारसे परब्रह्मका ज्ञान नहीं होता और मनमें भरा हुआ अज्ञान नष्ट नहीं होता।

१९२–जिसके अचल स्वरूपका मन आकलन नहीं कर सकता उसका ध्यान तद्रूप होकर ही करना चाहिये।

उसके लिये सभी उपमाएँ अनुपयुक्त हैं। उसमें अहङ्कार तथा सङ्गकी सम्भावना नहीं।

१९३—परब्रह्मको जानते हैं या नहीं जानते, ये दोनों ही बातें कहते नहीं बनतीं। वेद, शास्त्र और पुराण उसका वर्णन नहीं कर सकते। वह दृश्यादृश्यातीत है, श्रुति भी उसका अन्त नहीं जानती।

१९४—साधक अपने गुरुसे पूछता है 'हृदयमें वास करनेवाला देव कौन है और कैसा है? देहपातके पश्चात् वह कहाँ रहता है और फिर क्या वह देह धारण करता है?'

१९५—हृदयमें वास करनेवाला देव आकाशकी नाईं व्यापक है, वह सदा-सर्वत्र है, गतिरहित है, किन्तु उससे कोई स्थान रिक्त नहीं।

१९६—आकाशमें विचरनेवाले परमाणुसे भी सूक्ष्म है किन्तु उसमें भी व्याप्त है, ध्यान करते-करते उससे तद्रूपता होती है।

१९७—श्रीरामचन्द्रजीका स्वरूप आकाशवत् व्यापक है। उसका चिन्तन करनेसे जन्म-मरणके मूलका छेदन हो जाता है। उसके दर्शन होते ही देह-बुद्धि नष्ट हो जाती है। उसके साक्षात्कारसे कभी तृप्ति नहीं होती।

१९८—आकाशके सदृश व्यापक होते हुए भी श्रीरामजीको वह उपमा उचित नहीं। व्याप्य वस्तु बिना व्यापकत्व नहीं और वह तो एक ही हैं अतएव यह उपमा भी व्यर्थ है।

१९९—वह सनातन स्वरूप सर्वत्र भरा हुआ है। उसके विषयमें तर्क नहीं हो सकता। वह अत्यन्त गूढ़ है फिर भी श्रीगुरु-कृपासे सुलभ है एवं अन्तरमें उसका अनुभव हो सकता है।

२००—ज्ञान-प्राप्तिके पश्चात् उसका अनुभव होता है। वहाँ सर्वसाक्षी जो तुर्यावस्था है, उसका लय होता है। इतना ही नहीं, उन्मनावस्थाका भी वहाँ लय होता है और जगत् राममय दिखायी देने लगता है।

२०१—सत्स्वरूपके अनुभवके अनन्तर द्वैत नहीं रहता। चिरकालके पश्चात् आपकी भेंट हुई है, इससे विदेहावस्था प्राप्त होकर मनसहित सर्व शरीर शीतल होता है।

२०२—हे मन! तुझे परमेश्वरका अनुभव हो गया है किन्तु श्रवण, मनन, निदिध्यासन और सत्सङ्गतिसे उसको दृढ़ करनेके लिये तुझे प्रयत्न करना चाहिये। ऐसा करनेसे जगत्में तू धन्य कहलायेगा।

२०३—हे मन! प्रपञ्चका सङ्ग छोड़ दे और आदरपूर्वक सत्सङ्गति कर। इससे महादुःखका निराकरण होकर अनायास सन्मार्ग प्राप्त होता है।

२०४—हे मन! यह सत्सङ्ग प्रापञ्चिक सङ्गसे मुक्त करनेवाला तथा मोक्ष देनेवाला है। भव-सागरसे साधकोंको छुड़ानेवाला और द्वैत भावनाका समूल नाश करनेवाला है।

२०५—इस 'मनोबोध' को श्रद्धायुक्त सुननेसे दोष भाग जायँगे, मूढ़ जीव साधनाके योग्य होंगे, ज्ञान, वैराग्य और सामर्थ्यकी वृद्धि होगी एवं सब मोक्षसुखका अनुभव करेंगे।

आदर्श सरकारी नौकर

(लेखक—श्रीभगवतीप्रसादसिंहजी डिप्टी कलक्टर)

यह विशाल विश्व नाटकके एक रङ्गमञ्चके समान है और हम सभी नर-नारी इसमें अभिनेता हैं। कविका यह कथन अक्षरशः सत्य है। कर्तव्य हमारा यह है कि हम इस सत्यका अनुभव करें और सदैव इसका ध्यान रक्खें। यदि हमने इतना कर लिया तो हमारी अनेक आपदाएँ अपने-आप विलीन हो जायँगी। हमारे कर्मके अनुसार ही हमारी शारीरिक आकृति, जीवनकी स्थिति तथा वातावरण हमें मिला है। अस्तु, हमारा यह परमधर्म हो जाता है कि इस जगन्नाटकमें हम अपने अभिनय-को, अपने कर्तव्यको इस खूबीसे सँभालें कि संसारके इस कोलाहलपूर्ण वायु-मण्डल तथा बनते-मिटते मनोभावोंके बीच भी हम अपने अनन्त अमर-तत्त्व तथा जीवनके वास्तविक उद्देश्यको कभी भूल न बैठें। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि हमारे सुकर्मोंका फल भी सुन्दर ही होता है, हाँ, भले ही वह आज हो अथवा वर्षों बाद। कारलाइलने ठीक ही कहा है कि जब हम किसी व्यक्तिको स्पर्श करते हैं तो स्वर्गका ही स्पर्श करते हैं। यह समस्त चेतन-सृष्टि प्रभुका साकार स्वरूप है। उसकी सेवा करके हम प्रभुकी ही सेवा करते हैं। जीवनकी स्थितिद्वारा प्रभुने जनता-जनार्दनकी सेवाका जो अमूल्य अवसर हमें प्रदान किया है उसके लिये हमें उसका कृतज्ञ होना चाहिये। मेरे विचारसे, सरकारी नौकरी परमात्माकी सेवाके लिये एक परम विशाल क्षेत्र है। हमारे लिये सेवाका तथा दायित्वका क्षेत्र उन्हीं विविध अज्ञेय उपकरणोंद्वारा निश्चित होता है जो विश्वके मूलमें है, जिससे विश्वका सञ्चालन एवं शासन होता है। हममेंसे कुछ तो अपने शरीरकी ममतामें ही जकड़े हैं, कुछ परिवारकी चिन्तामें व्यस्त हैं, कुछ अपनी जातिकी सेवामें संलग्न हैं, कुछ अपने देशकी भलाईमें लगे हैं और कुछ समस्त मानवजातिके कल्याण-साधनमें तत्पर हैं। इतना ही पर्याप्त नहीं है कि हम अपने कर्तव्यका अच्छी तरह पालन करें अपितु हम अपने जीवनको आदर्श बना दें जिसमें दूसरे उसका अनुसरण करें। समूचे राष्ट्रके भाग्यको पलट देनेके लिये एक ही सच्चा सेवक पर्याप्त है।

'सरकारी नौकर'—शब्द ही ठीक नहीं है। किसी प्रकारकी भ्रान्ति न उठ खड़ी हो, इसी हेतु मैंने इसका प्रयोग किया है। वस्तुतः इसका पूरा-पूरा भाव 'जन-सेवक' (public servant) शब्दमें ही आता है और यही शब्द कानूनकी पुस्तकों और अन्य सरकारी कागजोंमें व्यवहृत हुआ है। 'जन-सेवा' के सच्चे अर्थमें सुखोपभोग तथा शक्ति-प्रदर्शन और उत्पीड़नके लिये कोई गुंजाइश ही नहीं है।

इसके लिये तो 'राजर्षि' शब्द बहुत उपयुक्त और सुन्दर प्रतीत होता है—अर्थात् एक राजा जो वस्तुतः सन्त है। ठीक इसी भावकी अभिव्यक्ति प्लेटोने भी की थी—जब उसने कहा था कि सच्चे आदर्श लोकतन्त्रवादमें तो दार्शनिक और सन्तका ही शासन होगा। नीचेकी कुछ पंक्तियोंमें मैं 'जन-सेवकों' के कुछ आवश्यक कर्तव्य और धर्मपर कुछ निवेदन करूँगा। पहले तो मैं जन-सेवकोंका दो विभाग कर लेना चाहता हूँ—पहली श्रेणीमें वे हैं जो ऊँचे पदपर हैं और अच्छा वेतन पा रहे हैं—जो 'अफसर' कहलाते हैं। दूसरे साधारण वेतन-के क्लर्क अथवा सहकारी नौकर हैं। यह विभाजन इसलिये आवश्यक है कि इन दो वर्गोंकी कार्य-शैली स्वभावतः भिन्न है।

सरकारी नौकरी अर्थात् 'जन-सेवा' के कई विभाग (departments) हैं अतएव यह सम्भव नहीं कि अलग-अलग सबके आचरण और दायित्व-का विश्लेषण किया जा सके । अतः यहाँ मैं न्याय-विभागको पहले लूँगा और इसके सम्बन्धमें मेरे जो विचार होंगे, आवश्यकीय परिवर्तनके साथ दूसरे विभागमें भी लागू होंगे । न्याय-विभागमें वे अफसर आते हैं जिनका काम दीवानी, फौजदारी तथा राजकर-सम्बन्धी मामले-मुकदमेका देखना तथा फैसला करना होता है ।

पहली बात जो ऐसे अफसरोंके लिये नितान्त आवश्यक है—वह है ईमानदारी। जो कमज़ोर दिलके होते हैं वे प्रलोभनोंमें फँस जाते हैं और घूस लेने लगते हैं। कुछ समयके लिये वे भले ही सुखी हो जायँ, परन्तु आगे चलकर उनका यह अन्यायद्वारा अर्जित द्रव्य अवश्य ही उनकी कल्पनातीत हानिका कारण बन जाता है। यह सच ही कहा है कि—

अन्यायोपार्जितं द्रव्यं दशवर्षाणि तिष्ठति ।
प्राप्ते तु षोडशे वर्षे समूलं च विनश्यति ॥

अर्थात् अन्यायसे कमाया हुआ धन दस वर्ष-तक तो ठहरता है परन्तु सोलहवाँ वर्ष आते ही उसका समूल नाश हो जाता है ।

हम सभी ऐसे उदाहरणोंसे भलीभाँति परिचित हैं जहाँ घूसखोरोंका अन्तमें अचानक सत्यानाश हो गया। कभी-कभी तो उनके परिवारमें बहुत दिनतक घुला-घुलाकर मारनेवाली बीमारी घर कर लेती है, कभी रुपयेका स्वाहा करनेके लिये मुकदमे खड़े हो जाते हैं, कभी चोरी हो जाती है, कभी और कुछ । कभी-कभी तो ऐसी दुर्घटनाएँ होती हैं कि देखनेवाले भी भीत-चकित हो जाते हैं। ऐसा भी बहुधा देखनेमें आया है कि ऐसे व्यक्तिकी सन्तान दुराचारी, व्यभिचारी, आवारा, धनको पानीकी तरह बहानेवाली और ऐसे ही अन्य दुष्कर्म करनेवाली निकलती है। अभिप्राय यह कि पापार्जित द्रव्यका परिणाम बहुत ही घातक होता है; ऐसा धन कभी फूलते-फलते नहीं देखा गया ।

अफसरोंको जनताकी सुविधाके लिये, जिनका इनसे सम्पर्क है, समयकी पाबन्दीका भी पूरा-पूरा ध्यान होना चाहिये । उन्हें ठीक समयपर आना चाहिये । एक स्थूल उदाहरण लेकर देखें। एक ऐसे डिप्टी कलक्टरका उदाहरण लीजिये जो मुकदमोंकी तहकीकात और फैसलेके लिये दौरेपर गये हुए हैं। कम-से-कम, संयुक्तप्रान्तमें तो यह सर्वविदित सत्य है कि ऐसे अफसर अपनी कचहरी बहुत देर करके तीसरे पहर प्रारम्भ करते हैं। बहुधा ऐसे दौरे जाड़ेके दिनोंमें ही होते हैं और इन चलती-फिरती कचहरियोंमें आनेवाले व्यक्ति प्रायः दरिद्र देहाती किसान होते हैं जिनके शरीरपर नाममात्रके वस्त्र होते हैं। यदि अफसर अपना कार्य बहुत देरसे तीसरे पहर प्रारम्भ करता है तो स्वभावतः वह सूर्यास्त हो चुकनेपर अथवा उसके लगभग समाप्त करेगा। कचहरीसे लौटते समय लोग जाड़ेसे बेतरह सताये जायँगे और हो सकता है कि इन बेचारे गरीबोंमें कुछको भयानक प्राण-घातक रोग भी हो जाय । परन्तु यदि अफसरने दोपहरके एक घण्टा पूर्व ही कार्य प्रारम्भ किया, जिसमें कचहरीका कार्य वह ऐसे समयमें समाप्त कर सके कि वे बेचारे देहाती जो उसकी कचहरीमें आये थे—सूर्यास्तके पूर्व ही घर लौट सकें—तो मेरी समझमें वह जनताकी अवर्णनीय भलाई और सेवा कर रहा है और इसके द्वारा परमात्माकी भी । हेडक्वार्टरोंमें भी प्रायः नित्य ऐसी ही बातें होती हैं। अपनी जेबसे एक पैसा खर्च किये बिना ही ऐसे अफसर जनता-की अपार सेवा करनेका अवसर पाते हैं। लेखके कलेवरका खयाल रखकर मैं अधिक विस्तारमें जाना

नहीं चाहता। परन्तु जो सहृदय व्यक्ति हैं वे मेरा अभिप्राय समझ गये होंगे।

यदि हाकिम लोग प्रसन्नतापूर्वक थोड़ा-सा कष्ट उठा लें तो सहज ही बहुतोंका बहुत अधिक भला हो जाय। बहुधा ऐसा होता है कि दरिद्र और कङ्गाल किसानके पास वकील रखनेके लिये पैसे नहीं होते। प्रायः व्यर्थ और महत्त्व-शून्य समझकर ऐसे लोगोंके मामलेपर पूरा-पूरा ध्यान भी नहीं दिया जाता। यदि इन गरीबोंपर कुछ दया करके हाकिम लोग सहानुभूतिपूर्वक उनके मुकदमोंको देखें और फैसला करें तो मेरा ध्रुव विश्वास है कि इन निरीह मूक व्यक्तियोंके निश्छल हृदयसे जो आशीर्वाद निकलेगा उससे उन अफसरों तथा उनके परिवारका समय पड़नेपर इतना अधिक कल्याण होगा कि जितना उनके मित्र कहे जानेवाले व्यक्तियोंसे तथा सोनेकी थैलियोंसे कदापि नहीं हो सकता।

जजकी जिम्मेवारी बहुत अधिक है। फैसला देते समय उसके हृदय, उसके मनमें व्यक्तिगत आवेश अथवा उत्तेजनाका लेश भी नहीं होना चाहिये। प्रायः यह देखनेमें आता है कि बेचारे कचहरी आनेवाले गरीब देहाती कचहरीकी तहजीबसे परिचित नहीं होते, वे वहाँके नियम-कानून नहीं जानते, न वहाँकी व्यवहृत भाषा ही जानते हैं। तथा भय, आतङ्क या और कुछ कारणोंसे वे घबड़ा जाते हैं। ऐसे अवसरोंपर न्यायाधीशको अप्रसन्न करनेवाली बातें भी उपस्थित हो जाती हैं। ऐसे ही अवसर, सच पूछा जाय तो, उस हाकिमकी परीक्षाके भी हैं कि वह मुकदमेके तथ्यातथ्यका निर्णय करते समय अपने समस्त व्यक्तिगत भावोंको सर्वथा हटा दे। ऐसा करना कुछ कठिन नहीं है। ऐसा करनेके लिये प्रभुसे प्रार्थना करनी चाहिये, प्रार्थना तो अवश्य 'वह' सुनेगा ही। इतना स्मरण रहे कि 'तुम स्वयं ईश्वरके साथ व्यवहार कर रहे हो', फिर कभी भी भूल न होगी। हृदयके निर्मल रहते हुए भी यदि निर्णय ठीक नहीं हुआ तो यह हाकिमका दोष नहीं है। यदि नीयत खराब हुई तो पाप अवश्य लगेगा।

मीठे वचनकी तो आवश्यकता है ही, विशेषतः जब वह एक अप्रिय कार्य कर्त्तव्यके रूपमें करता है। कैदकी सजा उत्तेजनापूर्वक, आवेशमय भाषामें सुनायी जानेपर वह अभियुक्तके हृदयमें सहज ही प्रतिहिंसाकी भावना जाग्रत कर देती है। हारा हुआ व्यक्ति यदि यह जान जाय कि उसकी हारमें जजका कोई व्यक्तिगत रोष नहीं है तो वह उसके प्रति कोई भी विरोधी भाव न लायेगा, नहीं तो सारा दोष जजके सिरपर आ पड़ेगा। और भी बहुत-से ऐसे अवसर आते हैं जब लोगोंकी प्रार्थनाओंको अस्वीकार करना पड़ता है। यह भी नम्रता और कोमलताके साथ किया जायगा तो लोग उसे समझनेमें गलती नहीं करेंगे।

अवश्य ही अपने मातहत कर्मचारियोंके साथ अफसरकी मर्यादा (discipline) की पूर्ण रक्षा करनी चाहिये। परन्तु उनके साथ उसका व्यवहार दयाका होना चाहिये। अपने मातहतोंको अपना शत्रु न मान बैठे प्रत्युत उन्हें अपना बालक समझकर व्यवहार करे। बुराईसे घृणा करो न कि बुरेसे, यह बात अनेकों सन्तोंने कही है। सजा देते समय बदला लेनेका भाव आना कदापि उचित नहीं है। कभी-कभी ऐसा होता है कि एक गरीब क्लर्कके बर्खास्त कर देनेपर उसका सारा परिवार सङ्कटमें पड़कर तबाह हो जाता है। उस एकके दण्डका भोग सारे परिवारके गरीब, दरिद्र प्राणियोंको भोगना पड़ता है।

जजमें नाममात्रका भी साम्प्रदायिक राग-द्वेष नहीं होना चाहिये। ऐसे विचारोंको मनमें लाना ही बहुत भारी पाप है। जिस प्रकार कोई भी दो

व्यक्ति आकार-प्रकारमें एक-सा नहीं होते, ठीक वैसे ही सब प्रकारसे किन्हीं भी दो व्यक्तियोंका धार्मिक विश्वास और मत एक नहीं हो सकता। जिसकी जैसी व्यक्तिगत आध्यात्मिक और शारीरिक रचना होती है, ठीक उसके अनुरूप ही उसका धार्मिक विश्वास भी होता है। सभी मनुष्य समान हैं और ईश्वरकी प्रतिमूर्ति हैं। केवल रूप-रङ्गमें ही भिन्नता है, मूलतत्त्व एक है। साम्प्रदायिक पक्षपात किसी भी जातिका स्थायी कल्याण नहीं कर सकता। किसी भी राष्ट्रके जीवनपर उदारभावसे दृष्टि-पात करनेपर ही साम्प्रदायिक पक्षपातकी भूल समझमें आ जायगी।

सारांश यह कि हाकिमको अपने निजी स्वार्थोंमें पूरी सचाई और ईमानदारीसे काम लेना चाहिये। जनताके प्रति, जो उसकी मालिक और अन्नदाता है, सेवाका भाव होना चाहिये। अपने कर्त्तव्य-पालनके साथ-साथ उनकी जितनी भलाई वह कर सके उतनी करनी चाहिये। अपने व्यवहारमें उसे नम्र, मधुर, सहानुभूतिपूर्ण और संयमशील होना चाहिये। अपने निर्णयमें (Judgment) निष्पक्ष, समाहित और स्थितधी रहना चाहिये, अपनी मातहतीमें कार्य करनेवालोंके साथ उसका व्यवहार वैसा ही होना चाहिये जैसा उसका अपने परिवारवालोंके साथ होता है और उसे यह स्मरण रखना चाहिये कि उसके इस व्यवहारमें बदलेकी भावनाको कोई गुंजाइश ही नहीं है। किसी भाँति भी उसे साम्प्रदायिक प्रवाहमें बह न जाना चाहिये। उसे न कभी लड़ना चाहिये, न डरना चाहिये और न पक्षपात ही करना चाहिये। यदि वह इन सिद्धान्तोंके अनुकूल आचरण करेगा, तो इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि परमात्मा उसकी हर विपदासे रक्षा करेंगे, उसका बाल भी बाँका न होने पायेगा और अपनी थोड़ी आयपर भी, जिसे वह ईमानदारी और धर्मसे उपार्जन करता है, वह फूलेगा-फलेगा, उन्नति-पथपर अग्रसर होगा।

ऊपरकी ये बातें मध्य श्रेणीके अफसरोंके लिये भी समानरूपसे कही गयी हैं। इससे भी बढ़कर सौभाग्यकी बात उनके लिये यह है कि उन्हें जनताके द्वारा जनार्दनकी सेवा करनेका अधिक अवसर प्राप्त है, क्योंकि वे अपने नित्यके कार्यमें जनताके अधिक निकट स्पर्शमें रहते हैं। उन्हें जनताके साथ अपने व्यवहारमें विशेषरूपसे मधुर होनेकी आवश्यकता है। जिस मनुष्यका काम उन्हें करना है जितना शीघ्र सम्भव हो उसे पूरा कर देना चाहिये। इसे तो वे सहज ही कर लेंगे यदि वे सेवा-भावसे कार्य करें न कि किसी व्यक्तिगत अनुचित लाभ या स्वार्थके लिये। अनुचित ढङ्गसे रुपये कमानेकी कुत्सित मनोवृत्ति ही कार्यमें अनावश्यक विलम्ब करा देती है। उन्हें मानव-जातिकी सेवामें विशेष आनन्द लाभ करना चाहिये। खासकर निर्बल, वृद्ध, निराश्रित, निरीह, अपाहिज, स्त्री और बच्चोंकी सेवाद्वारा।

मेरे विचारमें, एक ईमानदार 'जन-सेवक' जो सच्चे सेवा-भावसे अपना कर्त्तव्य करता जाता है, एक साधारण सन्त-महात्मासे अधिक आदर-श्रद्धाका पात्र समझा जाता है। वह सच्चा कर्मयोगी है। किसी प्रकार भी बुराइयोंके साथ समझौता न करना, वैसा करनेके लिये प्रलोभनों और आकर्षणोंके आते रहनेपर भी उनके साथ वीरतापूर्वक संघर्ष करते जाना, किसी भाँति भी एक बड़े महात्माकी कठोर-से-कठोर तपस्यासे निम्न श्रेणीका नहीं है। जनताका एक भी ऐसा सच्चा सेवक अपने जीवनके प्रत्यक्ष उदाहरणद्वारा संसारका इतना अधिक कल्याण कर सकता है जितना कि दूसरा कर नहीं सकता। वह प्रभुकी कीर्त्तिपताका है। भगवान् आजके इस भ्रान्त संसारमें सच्चे जन-सेवकोंको भेजकर लोक-कल्याण करें।

मनके रहस्य और उसका नियन्त्रण

(लेखक—स्वामीजी श्रीशिवानन्दजी)

[पूर्वप्रकाशितसे आगे]

५७–जो लोग यथालाभ सन्तुष्ट नहीं होते हैं उनमें मानसिक दुर्बलता होती है। सन्तोष परम धर्म है। सन्तोषात्परमं लाभम्—सन्तोषसे तुम्हें परम लाभ होगा। मोक्षके विस्तृत राज्यके चार सन्तरियोंमेंसे यह भी एक है। यदि तुम्हारे भीतर एक यही धर्म हो तो इससे तुम्हें सत्संग, विचार और शान्तिकी प्राप्ति होगी।

५८–वाणी, मुखाकृति और नेत्रोंके द्वारा दोषरहित मनकी जाँच होती है। इन चेष्टाओंके द्वारा निर्दोष मनवाले मनुष्यके विषयमें सम्मति दी जा सकती है।

५९–सुखद और दुःखद अनुभवोंके द्वारा मनुष्य सामग्री इकट्ठी कर उनसे मानसिक और नैतिक गुणोंका निर्माण करता है।

६०–मनकी चैतन्यताका नाम चित्त है। चित्त अधिकांशमें विगत अनुभवों तथा उन स्मृतियोंसे पूर्ण होता है जो विस्मृतिमें डाल दी गयी हैं, और जिनका पुनरुद्धार हो सकता है।

६१–जैसे एक महाजन जब सालके प्रारम्भमें अपनी बही बदलता है तो गत वर्षका सारा हिसाब विस्तारपूर्वक अपनी नयी बहीमें नहीं लिखता, बल्कि केवल बाकी रोकड़ ही उतारता है, उसी प्रकार आत्मा नये मस्तिष्कमें गत जीवनके अनुभवोंका सारांश तथा अन्तिम परिणाम और निर्णय प्रदान करता है। यही स्टाक है जो नये जीवनके हाथोंमें दिया जाता है। नये मकानके यही मानसिक उपकरण हैं।

६२–सङ्कल्प-विकल्पसे रहित होनेपर केवल मनके द्वारा ही ब्रह्मानुभव होता है। मनके सङ्कल्पों और विकल्पोंके पूर्ण उदय और अस्तके साथ ही इस जगत्का, जो केवल एक प्रकारकी चेतना है, उदय और अस्त होता है। सङ्कल्प ही इस जगत्को उसके चराचर जीवोंके साथ क्रियारूपमें उपस्थित करता है।

६३–मन जो अपनी अभिलाषाओंके उत्थान-पतनके साथ उठता और गिरता है, अपने अज्ञानसे इस मायात्मक जगत्को सत्य कल्पना कर लेता है। परन्तु इसे जगत्के वास्तविक स्वरूपको बतलाना होगा, तब वह इसे स्वयं ब्रह्मरूप समझेगा।

६४–मन ही मनुष्यके बन्धन और मोक्षका कारण है। मन ही मनुष्यको इस जगत्से बाँधता है, जहाँ मन नहीं है वहाँ बन्धन भी नहीं है। अविवेक और अज्ञानके द्वारा मन कल्पना करता है कि आत्मा इस शरीरमें कैद होकर रहता है, और इस प्रकार आत्माको वह समझता है कि बन्धनमें है। मन अपनेको जीवात्माके साथ अभिन्न समझता है और अपनेको 'अहम्' मानता है और इस प्रकार मानता है कि 'मैं बन्धनमें हूँ।' अहङ्कारयुक्त मन बन्धनका मूल कारण है। अहङ्काररहीन मन मोक्षका कारण है। मन अपने अविवेक और अज्ञानके द्वारा अपनी मिथ्या स्थितिको सत्य समझता है और अपने आपको सब कर्मोंका कर्ता समझता है, इस प्रकार अहङ्कारी बन जाता है। वह मान लेता है कि मैं बन्धनमें हूँ। वह जीवात्माके साथ तादात्म्य स्थापित कर स्वयं जीवात्मा बन जाता है, और अच्छे और बुरे कर्मोंके करने तथा उनके परिणामसे सुख-दुःखको भोगनेका उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लेता है।

६५–मन जीवसे कर्म कराता है इसलिये वही कर्मोंका कर्त्ता है और कर्मोंका उत्तरदायित्व इसीके ऊपर अवलम्बित है।

६६–मन और जीवात्मा सदा एक साथ रहते हैं। वे एक-दूसरेसे अलग नहीं किये जा सकते। मन जीवात्माको विषयोंमें घसीटता है। जीवात्मा मनमें आभास-चैतन्य है।

६७–तुम केवल विषयको देख सकते हो, परन्तु साक्षी या कूटस्थ ब्रह्म मनको, उसके विकारोंको, जीवात्माको और जगत्के विभिन्न विषयोंको देखता है।

६८–मनुष्य जैसा सोचता है वैसा ही बनता है। इस प्रकार वह स्वयं ही अपने आचारका निर्माता बनता है। दूसरोंके ऊपर अपने कर्मोंका प्रभाव डालकर वह अपनी भावी परिस्थितिका निर्माण करता है। यदि तुम सद्विचार रखते हो तो क्रमशः अपने सदाचारका

निर्माण करते हो, परन्तु यदि तुम दुर्विचार रखते हो तो उससे दुराचारका निर्माण करते हो ! मनुष्य विचारोंके द्वारा निर्मित होता है, एक जन्ममें जैसा वह विचार करता है दूसरे जन्ममें वैसा ही वह बन जाता है ।

६९–यदि मन एक प्रकारके विचारोंमें लगातार बना रहता है तो उससे एक संस्कार बनता है, जिसमें विचार-शक्ति स्वयमेव दौड़ा करती है, और इस प्रकारके विचारके अभ्यासमें मृत्यु हो जाय तो, क्योंकि विचारका अहङ्कारसे सम्बन्ध है इसलिये, वह विचारप्रवणता तथा शक्तिशालीनता-के रूपमें आनेवाले दूसरे जन्ममें चला जायगा ।

७०–मन आत्माका नाश करनेवाला है । यह चोर है । आत्माको मारनेवाले मनको विचार, मनन और निदिध्यासनके द्वारा मार डालो ।

७१–सृष्टि-कर्ता ब्रह्मके बिना मनकी अद्भुत शक्तिको आसानीसे और ठीक-ठीक कौन समझ सकता है ?

७२–शरीर अपनी इन्द्रियोंके साथ मनके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। मन शरीरका चिन्तन करते-करते स्वयं शरीर बन जाता है और तब इसमें बँधकर इससे कष्ट पाता है ।

७३–मानसिक कर्म ही यथार्थ कर्म है, पर शारीरिक कर्म वैसा नहीं है ।

७४–जब मन किसी वस्तुका अत्यन्त अभिलाषी हो जाता है तो शरीरके नाशका अवसर भी यदि आ जाय तो उसमें कष्टका अनुभव नहीं होता । जब मन पूर्णतः किसी विषयमें डूब जाता है तो शारीरिक चेष्टाओंसे कौन दूसरा देख या सुन सकता है ।

७५–सारे शरीरका आश्रय मन ही होता है । क्या जलके बिना कोई वन टिक सकता है ? मन ही सारा कारोबार चलाता है और वह शरीरोंमें सर्वश्रेष्ठ है । यहाँतक कि यदि यह भौतिक शरीर नष्ट हो जाय तो मन अपनी चाहके अनुसार शीघ्र ही दूसरा शरीर धारण कर लेगा । यदि मन अवसन्न हो जाय तो शरीर हमारी चेतनाको प्रकाशित न करेगा ।

७६–सूक्ष्म विषयोंका निरन्तर अध्ययन करनेसे दूसरे जीवनमें सूक्ष्म चिन्तनके लिये समुन्नत शक्ति प्राप्त होगी तथा निःसार और क्षणिक चिन्तन, एक विषयसे दूसरे विषयपर सदा उड़ते रहना, इनसे दूसरे जन्ममें एक चञ्चल और अव्यवस्थित मनकी प्राप्ति होगी ।

७७–दूसरेके स्वत्वके हड़पनेकी इच्छा यदि वर्तमान जीवनमें धूर्ततावश पूरी न हुई तो इससे मनुष्य दूसरे जन्ममें चोर बन जाता है, तथा राग और द्वेष यदि छिपेरूपसे हृदयमें स्थान जमाते हैं तो इससे हत्याकी चेष्टाका बीज वपन होता है । इसी प्रकार निष्काम प्रेमसे विश्वप्रेमके पुजारी और सन्त पुरुषकी उत्पत्ति होती है । प्रत्येक करुणाजनक विचार ऐसे कोमल और दयापूर्ण आचारके निर्माता होते हैं जो बहुधा सर्व जीवोंके हिताकांक्षी पुरुषोंमें पाये जाते हैं ।

७८–इस मनका फैलना ही सङ्कल्प कहलाता है और सङ्कल्प अपने भेद-भावनाकी शक्तिके द्वारा इस जगत्‌की सृष्टि करता है । सब सङ्कल्पोंसे निर्लेप होकर निर्विकल्प बन जाओ तब तुम्हें पूर्ण आनन्द और शान्ति मिलेगी ।

७९–प्रत्येक कर्मका कुछ सञ्चित होता है, जो उसका कारण होता है । प्रत्येक कर्मका कुछ आगामी होता है जो उससे उत्पन्न होता है । प्रत्येक कर्मके लिये एक इच्छाकी आवश्यकता होती है जिससे वह प्रवर्तित होता है, और एक विचारकी आवश्यकता होती है जो उसके रूपका निर्माण करता है । प्रत्येक कर्ममें कार्य-कारणकी एक अनन्त श्रृङ्खला होती है, प्रत्येक कारण कार्यका रूप धारण करते हैं और प्रत्येक कार्य कारणके उत्पादक होते हैं । इस अनन्त श्रृङ्खलाकी प्रत्येक कड़ी तीन भागोंसे संयुक्त होती है— इच्छा, विचार और क्रिया । इच्छा विचारको उत्तेजन करती है और विचार स्वयं ही क्रियाका रूप धारण करता है ।

(क्रमशः)

पतित-पावन !

(लेखक—पं० श्रीगौरीशंकरजी द्विवेदी 'साहित्यरत्न')

'पतित' शब्द संस्कृत-भाषाका है, इसका अर्थ है गिरा हुआ। इसलिये जो गिरे हुएको पवित्र करता है उसीका नाम पतित-पावन है। पतितोद्धारक शब्दका भी यही अभिप्राय है, क्योंकि बिना पवित्र बने किसीका उद्धार नहीं हो सकता, और पतित-पावनके बिना कोई पवित्र नहीं हो सकता। यहाँ यह शङ्का की जा सकती है कि पतित-पावन तो केवल पतितोंके पवित्र करनेवाले ही हैं, अतः उपर्युक्त 'कोई' शब्दका व्यवहार उपयुक्त नहीं मालूम होता। आगे इस शङ्काका समाधान स्वयं ही हो जायगा।

अब सबसे पहले यह विचारना है कि पतित कौन है, गिरा हुआ किसको कहेंगे ? मनुष्यसमाजकी गति-विधिपर दृष्टिपात करनेसे यह बात सहज ही ध्यानमें आ जाती है कि प्रत्येक मनुष्यके जीवनका लक्ष्य सुख और प्रतिष्ठा है। उसकी प्राप्तिके लिये उसने विभिन्न आदर्शोंका निर्माण किया है और उन आदर्शोंके लिये जगत्में विविध मार्ग प्रचलित हैं तथा नित-नये मार्गोंका अन्वेषण होता जा रहा है। इन आदर्शोंमें सदाचार, देश-भक्ति, धर्माचरण तथा भगवत्प्राप्तिकी प्रधानता पायी जाती है।

सदाचारको ही सर्वश्रेष्ठ ध्येय माननेवाला पुरुष समझता है कि जगत्में जो दुःख-क्लेश, राग-द्वेष तथा नाना प्रकारकी विपत्तियाँ मनुष्य झेलता है उसका एकमात्र कारण सदाचारकी अवहेलना ही है। जगत्को सुखमय स्वर्गके रूपमें लानेके लिये सदाचारकी ही एकमात्र आवश्यकता है। सदाचारशील पुरुष मनुष्य नहीं है, देवता है; और सदाचारसम्पन्न भूलोक देवलोकसे भी श्रेष्ठ है। ऐसा समझकर वह सदाचारको अपना जीवन-व्रत बना लेता है और उसके पालनमें जी-जानसे लग जाता है। परन्तु 'मनुष्याः स्खलनशीलाः'—भूल करना मनुष्यका स्वभाव है, इस नीतिके अनुसार जब वह दुर्भाग्यवश किसी दुर्गुणका शिकार बन अपने मार्गसे च्युत हो जाता है—गिर जाता है तो वह पतित-कोटिके मनुष्योंमें परिगणित होता है। फिर तो उसको चारों ओरसे नाना प्रकारके प्रलोभन आ घेरते हैं और वह लाचार हो जाता है—यही सदाचार-पथ-पथिककी पतनावस्था है।

देशको उन्नत करना, देशकी प्रतिष्ठाकी रक्षा करना, देशको सुखी बनाना आदि विचारोंसे प्रभावित हो देश-भक्त पुरुष देश-सेवाको अपने जीवनका चरम लक्ष्य बनाता है। परोपकार उसका एकमात्र व्रत बनता है और परोपकारमें, दीन-दुखी देश-वासियोंकी विपत्तिको दूर करनेमें वह अपने शारीरिक सुखको तिलाञ्जलि दे देता है; धनहीन, गृहहीन होकर नाना प्रकारकी विपत्तियोंको झेलता है। परन्तु स्खलनशील स्वभावके कारण जब पद-प्रतिष्ठा या ख्यातिकी कामना उसे आकर्षित करती है तो वह अपने व्रतसे गिर जाता है और पक्षपात, दुराग्रह आदिके फन्देमें फँस पथ-भ्रष्ट हो उठता है—यही देश-भक्तका पतन है।

इध तप्पति पेच्च तप्पति पापकारी उभयत्थ तप्पति।
पापं मे कतन्ति तप्पति भियो तप्पति दुग्गतिं गतो॥

'पाप करनेवाले इहलोक, परलोक—उभय लोकमें दुःख पाते हैं, जब-जब वे स्मरण करते हैं कि मैंने पाप किया है तब-तब उनको दुःख होता है और फिर नरकमें जानेपर तो उनको बहुत ही अधिक दुःख होता है।'

(भगवान् बुद्ध)

पाप और अधर्म एकार्थक शब्द हैं। जो धर्मका पालन करते हैं, धर्मको ही जीवनका सार, संसारका आधार तथा पुरुषार्थका आगार समझते हैं वे धर्माचारी कहलाते हैं। देश, काल और पात्रके अनुसार धर्मके विभिन्न रूप जगत्में प्रचलित हैं। और धर्मके अनुयायी पुरुषोंका यह दृढ़ मत है कि यदि सब पुरुष धर्माचरण करें तो संसारमें सुख-शान्तिका प्रसार होगा और मरनेके बाद स्वर्ग-सुख प्राप्त होगा। बहुतेरे पुरुष इस उद्देश्यको सामने रख धर्म-पथमें पैर रखते हैं, परन्तु धर्माचरण कष्टसाध्य होनेके कारण बहुतेरे अपने पथसे च्युत होकर अधर्म करने लगते हैं, ऐसे ही लोगोंकी दशाका चित्रण ऊपर भगवान् बुद्धकी वाणीमें किया गया है। धर्मको ही लक्ष्य बनानेवाले जब धर्माचरणसे दूर होते हैं, पतित हो जाते हैं—गिर जाते हैं।

संसार दुःखमय, पापमय है, माया है, अनित्य है; एक भगवान् ही आनन्दमय, सत्यस्वरूप और नित्य हैं; इसलिये संसारकी मृग-मरीचिकामें सुखके लिये दौड़ना भ्रम

है, अज्ञान है। आनन्दमय भगवान्को ही पाकर मानव-जीवन धन्य हो सकता है, पुरुष कृतार्थ हो सकता है; इसलिये संसारमें अनासक्त होकर प्रभुको प्राप्त करनेके लिये उसकी निष्काम भक्ति करनी चाहिये। इस प्रकारका जीवनोद्देश्य रखकर भक्तजन अपने जीवनको भगवद्भक्तिके व्रतका व्रती बनाते हैं। जगत्को छोड़कर वह जगन्नायकसे प्रेम लगानेकी निरन्तर चेष्टा करते हैं। परन्तु संसार एक बड़ी ही विलक्षण वस्तु है; इसे मनुष्य जितना ही छोड़नेकी चेष्टा करता है, उतना ही यह अधिक प्रबल रूपसे उसको पकड़नेके लिये अपने लुभावने मायाजालको फेंकता है, अभागे भक्त अपने भक्ति-साधनका अनादर कर उस मायाजालमें फँस जाते हैं। यह साधनभ्रष्ट होना ही भक्तकी पतनावस्था है—गिर जाना है।

इसी प्रकार योगी योगभ्रष्ट होनेसे, तपस्वी तपश्च्युतिसे—सारांश यह है कि जिस मनुष्यने अपने जीवनका जो सुन्दर आदर्श बना लिया है, उससे हटनेसे ही वह पतित—गिरा हुआ समझा जायगा। परन्तु क्या पतन होनेपर, गिर जानेपर मनुष्यको हताश होना चाहिये ? क्या पतित मनुष्य फिर अपने आदर्शकी ओर उठ नहीं सकता ? ऊपर विभिन्न दृष्टिकोणसे पतनावस्थाका जो चित्र खींचा गया है, उसको देखनेसे तो आपाततः यही जान पड़ता है कि मार्गच्युत, पथभ्रष्ट पतित पुरुषके जीवनको धिक्कार है, उसको पतित होनेकी—निन्दित होनेकी अपेक्षा मर जाना ही कहीं अधिक अच्छा है। भगवान्ने भी गीतामें कहा है—

सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥

भाव यह है कि प्रतिष्ठित पुरुषके लिये निन्दित होना मृत्युसे भी बढ़कर है। परन्तु इसके साथ एक प्रश्न यह उठता है कि उपर्युक्त उदाहरणोंमें जिस पतित-भावका दिग्दर्शन कराया गया है उसका मूल कारण क्या है ? तथा उसका निवारण किया जा सकता है या नहीं ? विचार करनेपर जान पड़ता है कि अपने अन्तःकरणके दोषों—मलोंके बढ़नेके कारण मनुष्य सत्पथसे—परमपथसे पतित होता है। अतः यदि कोई इन दोषोंका—मलोंका प्रक्षालन करनेवाला हो अथवा कोई पावन जलका सरोवर मिल जाय तो मनुष्य स्वयं उसमें डुबकी लगाकर अपने दोषको—मैलको दूर कर सकता है और पुनः अपने ध्येयकी ओर अग्रसर हो सकता है। इन दोनोंमेंसे पहले उपायको सद्गुरु कहते हैं और दूसरेको परम प्रभु—दोनों ही पतितपावन हैं ! दोनों ही अभिन्न हैं !!

अतएव पथभ्रष्ट मनुष्यके लिये, अपने आदर्शसे गिरे हुए पुरुषके लिये निराश होनेकी, अनुत्साहित होनेकी आवश्यकता नहीं है; वह सद्गुरुके चरणोंके आश्रयसे अपने दोषोंका निवारण कर, अथवा करुणा-वरुणालयके स्मरण-द्वारा निष्पाप होकर अपने ध्येयको प्राप्त कर सकता है, जीवनको सफल और कृतकृत्य बना सकता है—आवश्यकता है केवल पतितपावनसे नाता जोड़नेकी, फिर तो बेड़ा पार है।

यह तो हुई स्थूल दृष्टिकी बात। सूक्ष्म दृष्टिसे विचार किया जाय तो संसारके सभी प्राणी जन्मसे ही पतित हैं—गिरे हुए हैं। महर्षि गौतम जन्म लेनेका—प्रवृत्तिका कारण बतलाते हुए कहते हैं—'प्रवर्तनालक्षणा दोषाः।'

भाव यह है कि दोषोंके—मलोंके कारण ही मनुष्यकी जीवनमें प्रवृत्ति होती है। सच है, यदि दोषयुक्त संस्कार न होते तो जीवको जन्म लेनेकी आवश्यकता ही क्यों पड़ती ? ऐसी दशामें प्रत्येक मनुष्यके दो मौलिक कर्म हो जाते हैं—एक तो पूर्व-जन्मके दोषोंका परिमार्जन करना और दूसरे इहजन्मके आगन्तुक दोषोंसे अपनेको बचाना। भला, इस डबल व्याधिसे बिना पतित-पावनका पल्ला पकड़े बेचारे जीवका कल्याण कैसे हो सकता है। इसलिये सभी मनुष्योंका पहला कर्तव्य हो जाता है पतित-पावनसे नाता जोड़ना। इसीलिये भक्त-शिरोमणि गोसाईंजी कहते हैं—

मैं हरि पतित-पावन सुने।
मैं पतित तुम पतितपावन, दोउ बानक बने ॥

हे प्रभु ! मैंने सुना है कि तुम पतित-पावन हो। तब तो क्या ही अच्छी जोड़ी लग गयी ! मैं पतित और तुम पतित-पावन—मुझको तुम्हारे-जैसे पतित-पावनकी जरूरत है, और तुम्हें तो पतितोंको पावन करना ही है; पतितोंको पवित्र करना, गिरे हुओंको उठाना, यह तो करुणामय ! तुम्हारा काम ही है। हे पतित-पावन ! तुम तो अन्तर्यामी भी हो, मुझे भीतर-बाहरसे अच्छी तरह देखते हो; मैं कितना बड़ा पतित हूँ। प्रभु ! मुझे तो मालूम ही नहीं होता कि मैं कितना बड़ा पतित हूँ। परन्तु अब मैं तुम्हारे सामने आ गया; मुझे पावन करो, मुझ गिरे हुएको उठाओ, पथभ्रष्टको पथपर आरूढ़ करो, धर्मच्युतको धर्म-मार्गमें लगाओ, कलुषित जीवनसे त्राण करो, 'शरणागतोऽस्मि'।

भंगभोगी भगवान्‌की भ्रान्ति

(लेखक—पं० श्रीद्वारकाप्रसादजी शुक्ल 'शङ्कर')

मृत्युञ्जय विष-पान तो कर गये किन्तु वह गले अटका ! इसके अतिरिक्त मनोहर कम्बु-कण्ठ काला हो गया । यहीं नहीं, अब विषधर भुजङ्गोंसे कभी पीछा नहीं छूटता । वे कभी हटते ही नहीं । कारण कि भंगभोगी बाबा सब-का-सब ही 'जुहोमि स्वाहा' कर गये । इधर-उधर छलककर गिरे हुए कुछ ही अंशको वासुकिके भाई-बन्धु चख पाये । उनको वह अति ही रुचिकर और प्रिय लगा । अतएव अपने आदिवंश-प्रवर्तककी पसुलियाँ पिस जानेसे जो पदार्थ पहले-पहल प्राप्त हुआ, उसपर वे अपना पूर्ण प्रभुत्व जानकर उसको छीननेके लिये प्रस्तुत हो गये और निरन्तर उनपर आक्रमण कर जिह्वा-कृपाणोंकी लपालप करते रहते हैं । मालूम होता है कि भयावने सर्पोंके भयहीसे आप निमीलितनयन रहते हैं । इस विषपानसे केवल 'ससर्पे च गृहे' क्या, शरीरे वास ही नहीं हुआ किन्तु इसकी गर्मीके शमन करनेको घोर उपचार करने पड़े । घड़े-दो-घड़े नहीं, किन्तु अनेक 'सहस्र घट' की धारासे गर्मी शान्त होते न देखकर एक अति शीतल और वेगवती नदीकी धारा शिरपर सहनी पड़ी । न मालूम कौन-सी मिठाई विषमें धरी थी जिसके लिये उसे आप भङ्गकी तरङ्गमें सड़प कर गये, और उमाको व्यङ्ग परिहासका अवसर दे अपनी हँसी करायी ।

उमा कहने लगीं—

जाके पिये भई कालिमा कंठमें कौन सी यामें भई चतुराई ।
घेरे रहैं विषधारी सदा जेहि ते उनकी निधि लीन दुराई ॥
केते किये उपचार न ता लगि चंद औ गंग धरयो पछुराई ।
पूछैं उमा हँसि संकरतें विष-पानमें कौन मिली मधुराई ॥

और देखिये, जिन-जिन विभूतियों और शक्तियोंके कारण कोई उनकी आस करते हैं, उन सबको एक-एक करके यार लोगोंने उनको बेखबर पाकर झटक लिया । पासमें कुछ भी न रह गया, यहाँतक कि केवल शरीरमात्र ही उनके पास रहा सो वह भी पार्वतीजीका 'क्रीतस्तपोभिः' हो गया । हद है भूल और भ्रान्तिकी । भाई, ऐसेसे कोई क्या आशा करे ? त्रिलोकेश्वर होकर भङ्गकी तरङ्गमें सब गँवाकर क्रीतदास बन रहे हैं । देखिये न—

ज्ञान अगार समर्पि गनेसहिं, कीन्ह कुबेरहिं माल खजाने ।
सेन लियो अगुवाय कुमारने पाप प्रनासन जह्नुसुताने ॥
नाचि रिझाय जिआवत पेट लखै जग आपको अब्बदा थाने ।
का लखि आस करै कोउ संकर आपहू सैलजा हाथ बिकाने ॥

इसपर एक बला और भी पाले हुए हैं । न मालूम कहाँकी एक परम उद्दण्ड दया उनके मन-मन्दिरमें रहती है । किसीकी कोई परवा नहीं करती । जो मन भाया वही करती है, उसको तो 'षटहू ऋतुमाँहि हरेरोई सूझै' की तरह बारहों मास फाग खेलनेकी बान पड़ी है । उसीमें मस्त रहती है । क्या यह भङ्गभोगीजी नहीं जानते ! जानते क्यों न होंगे । क्योंकि वे तो सर्वज्ञ हैं । परन्तु आजकलकी नवीन सभ्यतासे कदाचित् वे भी प्रभावित हो गये हैं । इसीसे उसके इन स्वतन्त्रतासूचक कार्योंकी रोक-थाम और उनमें हस्तक्षेप करना सभ्य-समाजकी बंक भृकुटीके भयसे न करके स्वयं आँखें बन्द करके भङ्गभवानीकी तरङ्गोंमें तैरा करते हैं । क्योंकि यह जानते तो अवश्य ही हैं कि यह भ्रान्ति जरूर है, किन्तु इसके निवारणमें असमर्थ होनेसे मन समझा लेते होंगे कि 'यह भूल सही पै भई सो भई ।'

देखिये इसकी उद्दण्डताकी ओर, कैसे उनको सजग

किया गया है परन्तु कौन सुनता है। उन्होंने तो मालूम होता है कि 'मूँदहु आँखि कतहुँ कोउ नाहीं' की पॉलिसीका विवश होकर अनुसरण किया है—

शंकरजी कैसी ये उदंड बसे आप हिय
दया, जो न नेकहू सकोच उर धारती।
सामुहे परै जो ताको झपटि लगावै गरे,
तुरत उमंग रंग माँहि रँगि डारती ॥
करती बहाली मुख लाली लाय ऐसी, जाके
धोइबेमें चिंताकी जमाति थकि हारती।
खेलती रहै है नित यही फाग, नर नारि
अनघी अघी औ ऊँच नीच न विचारती ॥

अब विचारणीय यह रह जाता है कि क्या ये 'मूँदहु आँखि कतहुँ कोउ नाहीं' के अवलम्बनसे आँख बन्द किये रहते हैं कि इसका और कोई दूसरा कारण है। जरा विचारिये तो—

देखि त्रयलोचनको बैठे नेत्र बंद किये,
विविध प्रकार भाव उदय उर होते हैं।
शांत अंग भंग विष वेग गंगधार धोते
भीषन भुजंग भय भीतरमें गोते हैं ॥
सो रहे हैं बैठे या कि जगते आँख वंद किये,
आनँद अमंद चंद सुधासे सँजोते हैं।
सदा मग्न रहते संसार हित साधनमें,
अलख जगाते हैं न जागते, न सोते हैं ॥

परन्तु यह आँख बन्द करना चाहे संसार-हित-साधनमें 'अलख जगाने' के लिये ही क्यों न हो, इसका फल तो इनकी नगरीके प्रबन्धमें प्रबन्धकोंकी धींगा-धींगीकी 'चश्मपोशी' हीका प्रभाव रखता है। कोई अपनी-आप बीती इस प्रकार कहता है। या यों कहिये कि उनको सजग करता है, देखिये, कैसा गदर मचा है—

शंकरजी सुनो यही होता अनुमान मुझे,
नगरीमें आपकी न कोई कभी जायँगे।
दिनहींमें गली गली पड़ते हैं डाँके यहाँ,
जन्मकी कमाई कौन आकर गँवायँगे ॥
गंगासे बचीको झट भैरव झपेट लेत,
उनसे बचीको ढुंढिराज अपनायँगे।
पड़ इस झमेलेमें मनमें ठनी है यह,
काशी कहै कौन हम जगमें न आयँगे ॥

प्रार्थना

बुद्धिबल हीन हौं अनाथ आधीन अम्ब,
बालक अज्ञान जानि दया दृष्टि धारिये ॥
प्रेम-कृपा-सिन्धु प्रणतपाल है स्वभाव तेरो,
दीनन दुखहरण शरण संकट निवारिये ॥
अधम उधारण प्रण धरौ पतितपावन तुम,
अशरण अवलम्ब अम्ब बिरद ना बिसारिये ॥
करहु ना अवार शरणवत्सलता प्यारि धारि,
अपनो जन जानि जननि गोद ले सँभारिये ॥

—लक्ष्मीनारायण शर्मा

श्रीराधाकृष्णाय नमः

कीर्तन

ॐ जय श्रीराधा, जय श्रीकृष्ण, श्रीराधाकृष्णाय नमः॥

१-चंद्रमुखी चंचल चितचोरी। (राधा)
सुघर साँवरा सूरत भोरी॥ (कृष्ण)
श्यामा श्याम एक-सी जोरी। (राधा कृष्ण)
श्रीराधाकृष्णाय नमः॥

ॐ जय श्रीराधा, जय श्रीकृष्ण, श्रीराधाकृष्णाय नमः॥

२-पचरँग चूनर केसर क्यारी। (राधा)
पट पीतांबर कामर कारी॥ (कृष्ण)
एक रूप अनुपम छवि प्यारी। (राधा कृष्ण)
श्रीराधाकृष्णाय नमः॥

ॐ जय श्रीराधा, जय श्रीकृष्ण, श्रीराधाकृष्णाय नमः॥

३-चंद्र-चंद्रिका चमचम चमके। (राधा)
मोर मुकुट सिर दमदम दमके॥ (कृष्ण)
युगल प्रेम-रस झमझम झमके। (राधा कृष्ण)
श्रीराधाकृष्णाय नमः॥

ॐ जय श्रीराधा, जय श्रीकृष्ण, श्रीराधाकृष्णाय नमः॥

४-कस्तूरी कुंकुमयुत बिंदा। (राधा)
चंदन चारु तिलक व्रज-चंदा॥ (कृष्ण)
सुहृद लाड़ली लाल सुनंदा। (राधा कृष्ण)
श्रीराधाकृष्णाय नमः॥

ॐ जय श्रीराधा, जय श्रीकृष्ण, श्रीराधाकृष्णाय नमः॥

५-घूम घुमारो घाँघर सोहे। (राधा)
कटि कछनी कमलापति सोहे॥ (कृष्ण)
कमलासन सुर-मुनि-मन मोहे। (राधा कृष्ण)
श्रीराधाकृष्णाय नमः॥

ॐ जय श्रीराधा, जय श्रीकृष्ण, श्रीराधाकृष्णाय नमः॥

६-रत्नजड़ित आभूषण सुंदर। (राधा)
कौस्तुभमणि कमलांकित नटवर॥ (कृष्ण)
रणत्कणत् मुरली-ध्वनि मनहर। (राधा कृष्ण)
श्रीराधाकृष्णाय नमः॥

ॐ जय श्रीराधा, जय श्रीकृष्ण, श्रीराधाकृष्णाय नमः॥

७-मंद हँसन मतवारे नैना। (राधा)
मनमोहन मन हारे सैना॥ (कृष्ण)
मृदु मुसकावनि मीठे बैना। (राधा कृष्ण)
श्रीराधाकृष्णाय नमः॥

ॐ जय श्रीराधा, जय श्रीकृष्ण, श्रीराधाकृष्णाय नमः॥

८-श्रीराधा भव-बाधा हारी। (राधा)
संकटमोचन कृष्ण मुरारी॥ (कृष्ण)
एक शक्ति, एकहि आधारी। (राधा कृष्ण)
श्रीराधाकृष्णाय नमः॥

ॐ जय श्रीराधा, जय श्रीकृष्ण, श्रीराधाकृष्णाय नमः॥

९-जगज्ज्योति, जगजननी माता। (राधा)
जगजीवन, जग-पितु, जग-दाता॥ (कृष्ण)
जगदाधार, जगद्विख्याता। (राधा कृष्ण)
श्रीराधाकृष्णाय नमः॥

ॐ जय श्रीराधा, जय श्रीकृष्ण, श्रीराधाकृष्णाय नमः॥

१०-राधा राधा कृष्ण कन्हैया। (राधा)
भव-भय-सागर पार लगैया॥ (कृष्ण)
मंगल-मूरति, मोक्ष करैया। (राधा कृष्ण)
श्रीराधाकृष्णाय नमः॥

ॐ जय श्रीराधा, जय श्रीकृष्ण, श्रीराधाकृष्णाय नमः॥

११-सर्वेश्वरी, सर्व दुख दाहन। (राधा)
त्रिभुवनपति, तिरताप-नसावन॥ (कृष्ण)
परम देवि, परमेश्वर पावन। (राधा कृष्ण)
श्रीराधाकृष्णाय नमः॥

ॐ जय श्रीराधा, जय श्रीकृष्ण, श्रीराधाकृष्णाय नमः॥

१२-त्रिसमय युगल चरण चित धावे।
सो नर जगत परमपद पावे॥
राधा कृष्ण 'छैल' मन भावे।
श्रीराधाकृष्णाय नमः॥

ॐ जै श्रीराधा, जै श्रीकृष्ण, श्रीराधाकृष्णाय नमः॥

श्रीयमकरामायण

(लेखक—श्रीअमृतलालजी माथुर)

[पूर्वप्रकाशितसे आगे]

सुन्दरकाण्ड

रहनि जा हरिके मनु मानही
धन सु बीर महा हनुमान ही ।
अस बलीमुख और न दीसते
पलकमें गत पार नदीस ते ॥७३॥

छवि पतिव्रतकी मनुजानकी
बन असोक लखी मनु जानकी ।
दृगनिसों बहती रहि बारि ही
गनति पी-गुन बारहि बारि ही ॥७४॥

चरन-पंकज चारु चितारती
बिरह-तापनि कीन चिता-रती ।
दृग-झरी बरसावन-सी लगी
रितु-बिना झर सावन-सी लगी ॥७५॥

'नहिं निहारत हा ! रत हो किते ?
मग निहारत हारत नैन हैं' ।
हरि महातम ता सुभ गाइयो
दुख महा तम तासु भगाइयो ॥७६॥

मुद-करी मुदरी कर है दई
सिय लखी सुखिया करहै दई ।
नगर जारेउ अच्छ सँहारि के
लखि रहे सब रच्छस हारिके ॥७७॥

इन कियो हरि-दास-कलंक को
जतन भो सु बिनासक लंकको ।
चहुँ दिसानि हुतो जल तीर ही
तदपि सोन-पुरी जलती रही ॥७८॥

इक बिभीखनको घर छारकै
कनकको मुदयो पुर छार कै ।
मति लई प्रभुपै जब जान की
बहु असीस दई तब जानकी ॥७९॥

उर कियो कपि चिंतन आपको
सुगम भो अति लंघन आपको ।
प्रभु भजे भवते मुकती कहै
जलधि-लंघन बात कतीक है ? ॥८०॥

जलधिमें निज गात बुझायके
सकल संगिन बात बुझायके ।
प्रभु-पदंबुज माथ सु नाइयो
बिरहिनी सिय-गाथ सुनाइयो ॥८१॥

हरि चले दल लै बनरानके
महि चले दल ज्यों बिरुझानके ।
प्रभु टिके जब सागर-तीर ही
डगमगाति तबै धरती रही ॥८२॥

(इति सुन्दरकाण्डम्)

लङ्काकाण्ड

'महिप जो पर-नार निहारही
लहत सो निसचै रन-हार ही' ।
जदपि बंधु-सिखावन नेक ही
'मुख दुरावन' रावनने कही ॥८३॥

सरन आन बभीखन जो गही
नहिं कह्यो सब राखन-जोग ही ।
भरत-से रत सेवक साथ हैं
अभय-दायक नायक नाथ हैं ॥८४॥

नग तरे जिन नाम पयोधिपै—
न गत रे जिय ! तोहि तिन्हैं बिना ।
नम रहै जगदीस-पदानमें
न मरहै जग दीन-दसा लिये ॥८५॥

चरन चूमि रहे सुर जासुके
तुम सु पूजि महेसु रजा लई ।
हिम-सुता-पति ताप तिलोकके
हरत हैं रत हैं हरि-नेहमें ॥८६॥

समरमें मर मेघ-रवादि गे
जग-डरावन रावन वादि गे।
सिव बिरंचिहुके सरनागते
नहिं बचैं प्रभुके सर-नाग ते ॥८७॥

प्रबल भो महि पै महिपै महा
नतकपाल किये दिकपाल जो।
अघनि भावि परी विपरीत ह्वै
इत दसा न दसानन-की भई ॥८८॥

जिहि बिभीखन भीखनसों गह्यौ
बल लरावन रावनहू लह्यौ।
प्रभु विना भुवि, नाकहुँ देत को?
सरनको, रनको फल हारिखो ॥८९॥

अनलसों लखि लालित जानकी
परम प्रेम-मई सत जान की।
लसति सो सुखसों तुम-अंकमें
मनु सुधा-रस-रासि मयंकमें ॥९०॥

जिहि प्रभा, रति भारति-भावती
छवि-छकी गिरिजा गिरि जावती।
सुरति जास रमा सरमावती
वह सिया अवधेस रमावती ॥९१॥

प्रभु, सिया सह लक्खन, राज हीं
अभय लीन विभीखन राज हीं।
भरत-भाव हिये बिच लायके
चलत पुष्पक यान चलायके ॥९२॥

भरत राह निहारत रावरी
भरत राजिव-नैन तरावरी।
जब सुनी हरि-आवन-बात है
मगन भे सुख आव न बात है ॥९३॥

(इति लङ्काकाण्डम्)

उत्तरकाण्ड

सुमनकी झर देव लगावहीं
मुद भये सब मंगल गावहीं।
सकल लोक सजे वर वेस हैं
पुर भयो जब तो परवेस है ॥९४॥

नव छवी सरसा दरसानि है
हरसकी बरसा बरसानि है।
नृप सिंहासन सूरज-भा बनी
नुति भनैं भव, नाभि-ज भावनी ॥९५॥

कमल-कोमल स्यामल गात हैं
हर हिये नित ध्यान लगात हैं।
कहि न आवत नैननि हाल है
निरखि होवत नैन निहाल है ॥९६॥

अति मनोहर आनन ओप है
सम कहे कछु आन न ओप है।
नलिन से कर, नीरज पाय है
सिल तरी जिनकी रज पाय है ॥९७॥

मुकुट सीस, हिये वन माल है
जननिके हरि जीवन, माल हैं।
धनुस बान धरे स-निसंग हैं
लसि रहीं महि-नंदिनि संग हैं ॥९८॥

चरन चापि रहे हनुमंत हैं
सुरनकेर समूह नमंत हैं।
अनुज सेवत हैं अति भावसों
जन हिये प्रभुकी प्रति-भा वसो ॥९९॥

मुद-भये सुख-वास बसे सबै
विभव-नायक वासव-से सबै।
सुख-मई सब विस्व बसाहिवी
जयति सो जगमें तव साहिवी ॥१००॥

कुमति ना कलुसौ न कलेस है
विपतिको नहिं थानक लेस है।
कलह आप कृपा करिके हरी
मिलि रमें बनमें करि केहरी ॥१०१॥

सुरगके सुख मानव भू लहै
समयसो न धरा तव भूल है।
सुर-सरी जबलौं नग मेर है
तव कथा तबलौं जगमें रहै ॥१०२॥

तुम भजे जग, जीवन-भा रहै
तुम बिना जग जीवन भार है।
किनहु तो जग पाय न पार है
भजत सो जग पायन पारहै॥१०३॥

जगतमें बढ़ि तो रति-भावते
कतहुँ ना कछु है अति भावते!
जिन लियो तुमसों मन सान है
मुकतिपैं तिनकी मनसा न है॥१०४॥

तुम भजे सब सोगनि हारते
जन किते सब लोग निहारते।
तुम लखें मन लेसहु दीन है
तिन लखे अमरेसहु दीन है॥१०५॥

नहिं भजे तुमकों भव आयके
विफल वे दिन गे सब आयके।
तव सनेह-सुधा सरियाँ वहैं
सफल जानत हौं घरियाँ वहैं॥१०६॥

मधुर गायकके सुर, तान है
विफल जो तुममें सुरता न है।
अतिहिं चारु अनूप सु-रूप है
तुम भजे बिनु तो पसु-रूप है॥१०७॥

मगन ही तुममें हित जानके
मग नहीं तिनके चित जानके।
जब लगै मनवा तब ओर है
लखि परै न कछू तब और है॥१०८॥

न तपते, जपते, जग, जोग ते
व्रतनते तनते किनहूँ लह्यौ।
दरस को रसको पर-लाभ जो
करत हैं रत हैं तव रंग जे॥१०९॥

तुव पुरान परै नर कानमें
कबहुँ सो न परै नरकानमें
भजत जो कहुँ जातन नासहै
जगतकी वह जातन ना सहै॥११०॥

सुरत हेरत हैं तव रूप ही
अनतकैं न तकैं चित रंचहूँ।
सुध न है तनकै तनकै जिहीं
सु धन है धन है नर-लोकमें॥१११॥

कबहु कै बहुकै करुना मया
जगत-जीवन! जीवनके हितू!
दरसकी रसकी बरसात लै
विरह-वेदिन वे दिन फेरिहौ?॥११२॥

मम महा अघ, हा! अघ-हा हरे!
तुम नहीं मनहीं धरि राखियो।
निज दया जदया खलपै करो
विरदते रद ते करि डारियो॥११३॥

सकल ओर न और निगाहसों
निज गती जगती-तलपै लखूँ।
पकरके करके अपनो विभो!
हित-निबाहन! बाँह न छाँड़िये॥११४॥

जुगल पायन पाय नयो करूँ
हर समै रसमै विनयो करूँ
दुरित-हार-निहारन होय है
रस-मयो समयो कब सोय है?॥११५॥

डर खरो सु भरोस भरो सदा—
कर मया तन-यातन टारिहो।
इहिं कुमानस-मानस-हंस ह्वै
विहरि हौ हरिहौ भव-वेदना॥११६॥

अमृतकों मृतकों जग जो तजै
अघ विसार, विसारवि सार ना।
बिनु अधारन-धारन हे विभो!
निबलके बल केवल आप हो॥११७॥

मारवार मधि गाम 'कुचेरो'
नाम ही 'अमिय' राम-कु-चेरो।
'राम-गीत' रघुनंद निभायो
देखि भक्त-कवि-वृंदनि भायो॥११८॥

नेह-संजुत पढ़ै जद याको
पात्र होत रघुराज-दयाको।
ताहि तीन नहिं ताप तपावै
लोकमें सुजस, संपत पावै॥११९॥

शिव-विरंचि-निवेदित-चन्दनम्
निखिल-कल्मष-संघ-निकन्दनम्।
सकल-सज्जन-चेतसि-चन्दनम्
भजत भो रसिका रघुनन्दनम्॥१२०॥

समाप्तोऽयं ग्रन्थः

हिन्दुओंके त्यौहार और पन्द्रह तिथियाँ

(लेखक—पं० श्रीछज्जूरामजी शास्त्री, कविरत्न, विद्यासागर)

न्दुओंका प्रत्येक त्यौहार हमारी देशोन्नति और धर्मोन्नतिपर गहरा प्रकाश डालता है। किसी प्राचीन व्यक्ति या घटनाके स्मारकमें जो उत्सव किया जाता है वही त्यौहार कहलाता है। प्रत्येक मासमें दो पक्ष होते हैं—कृष्णपक्ष और शुक्लपक्ष। दोनोंमें पन्द्रह-पन्द्रह तिथियाँ होती हैं। उन पन्द्रह तिथियोंमें एक भी ऐसी तिथि नहीं है, जिसमें कोई-न-कोई त्यौहार न हो। क्रमसे देखिये—

१ *प्रतिपदा*—इस तिथिमें ब्रह्माजीने समस्त संसारको उत्पन्न किया था। जैसा कि ब्रह्मपुराणमें लिखा है—

चैत्रे मासि जगद्ब्रह्मा ससर्ज प्रथमेऽहनि।

अर्थात् 'चैत्र-शुक्ल-पक्षके प्रथम दिन (प्रतिपदा) को ब्रह्माजीने जगत्‌को रचा;' यह 'संवत्सरप्रतिपदा' कहलाती है, इसे बड़ा त्यौहार माना है—

संवत्सरस्य प्रतिमां यां त्वा राञ्युपास्महे।
सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण सं सृज॥
(अथर्ववेद ३। २। १०)

कार्तिक-शुक्ला प्रतिपदाको अन्नकूटका महोत्सव किया जाता है। यह त्यौहार भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके समयसे चला है। श्रीमद्भागवतमें और सनत्कुमार-संहितामें लिखा है कि—

कार्तिकस्य सिते पक्षे अन्नकूटं समाचरेत्।
गोवर्द्धनोत्सवं चैव श्रीकृष्णः प्रीयतामिति॥

२ *यमद्वितीया* (भाई-दूज)—कार्तिक-शुक्ला द्वितीयाको प्रातः स्नान करके भगवती यमुनाका पूजन करे और अपराह्णमें यमराजका पूजन करे। आजके दिन सूर्य-पुत्री भगवती यमुनाने अपने भाई यमराजको निमन्त्रण देकर अपने घरपर भोजन कराया था। इसी तरह हमको भी उस दिन अपनी बहिनके घर जाकर वस्त्र और अलङ्कारसे उसका सत्कार करना चाहिये। ऐसा करनेसे भगवान् यम अत्यन्त प्रसन्न होते हैं और यमयातना नहीं भोगनी पड़ती। इसका माहात्म्य सनत्कुमारसंहितामें खूब लिखा है।

३ *तृतीया*—यह त्यौहार वैशाख-शुक्ला अक्षयतृतीया नामसे प्रसिद्ध है। इस तृतीयाको जो दान-पुण्य किया जाता है वह अक्षय होता है। इसी दिन भगवान् 'परशुरामकी जयन्ती' मनायी जाती है।

४ *गणेशचतुर्थी*—भाद्रपद-शुक्ला चतुर्थीको मनाया जाता है। भगवान् श्रीगणेशजीका वर्णन सब पुराणोंमें और वेदोंकी मूलसंहिताओंमें आया है। सीताजीकी खोजके लिये हनूमान्‌जीने इसी व्रतको किया था, इस व्रतके करनेसे सब मनोरथ सिद्ध हो जाते हैं।

५ *वसन्तपञ्चमी*—

माघे मासे सिते पक्षे पञ्चम्यां पूजयेद्धरिम्।

इस दिन सब मन्दिरोंमें भगवान्‌को गुलालसे पूजते हैं और वसन्ती वस्त्र धारण करवाते हैं। भाद्र-शुक्ला पञ्चमी 'ऋषि-पञ्चमी' भी बड़ा त्यौहार माना जाता है। इसकी कथा भविष्योत्तरपुराणमें है।

६ *चम्पाषष्ठी*—मार्गशीर्ष-शुक्ला षष्ठी चम्पाषष्ठी कहलाती है। इसी षष्ठीका व्रत करके युधिष्ठिरने गये हुए राज्यको पुनः प्राप्त किया था। दक्षिण-देशमें इसका बहुत प्रचार है।

७ *सूर्यसप्तमी*—माघ-शुक्ला सप्तमी सूर्यग्रहणके तुल्य

मानी गयी है। इस व्रतके करनेसे महारोगी भी रोग-मुक्त हो जाता है। इसका प्रचार महाराष्ट्र-देशमें अधिक है।

यद्यज्जन्मकृतं पापं मया सप्तसु जन्मसु।
तन्मे रोगञ्च शोकं च माकरी हन्तु सप्तमी॥

शीतला-सप्तमी और पुत्रदा-सप्तमी प्रसिद्ध हैं।

८ *चैत्र तथा आश्विन-शुक्ला दुर्गाष्टमी*—यह भगवती देवीका प्रसिद्ध त्यौहार है। भाद्र-कृष्णाष्टमीके दिन पूर्णावतार भगवान् श्रीकृष्ण प्रकट हुए थे। यह त्यौहार जन्माष्टमीके नामसे समस्त भारतमें आबाल-वृद्ध प्रसिद्ध है। दुष्टोंका दलन और सज्जनोंका रक्षण प्रत्येक अवतारका सामान्य लक्षण है। सब अवतारोंमें श्रीकृष्णावतार पूर्ण है—यह बात गीता और भागवतसे स्पष्ट हो जाती है। भगवान् श्रीकृष्णका चरित्र बड़ा ही अद्भुत और विस्मयजनक है। जितने कार्य आपने किये, सभी आपकी अलौकिकताके ज्वलन्त दृष्टान्त हैं। साधारण पुरुष आपके रहस्योंके समझनेमें असमर्थ हैं। जो श्रद्धापूर्वक श्रीकृष्ण-भक्ति करते हैं, उनको आपके चरित्रोंमें कोई सन्देह नहीं होता।

९ *रामनवमी*—चैत्र-शुक्ला नवमीको भगवान् श्रीरामचन्द्रजी प्रकट हुए हैं। इस दिन अयोध्या और रामेश्वर आदि स्थानोंमें बड़ा भारी मेला लगता है। भगवान् श्रीरामका अवतार विशेषकर लोकमर्यादा बाँधनेके लिये था। अतएव आप मर्यादापुरुषोत्तम कहलाते हैं। जितना महत्त्व श्रीराम-चरित्रोंका है उतना ही सती सीता, सत्यवक्ता दशरथ, भ्रातृभक्त भरतजी और लक्ष्मणजीके चरित्रोंका है। स्त्रियोंका परमधर्म पतिसेवा है। इसका पालन श्रीसीताजीने पूर्णरूपसे किया है। वन-गमनादि घटनाएँ प्रसिद्ध हैं। उसपर उच्च कुलकी महिलाओंको ध्यान देना चाहिये।

प्राननाथ करुनायतन, सुंदर सुखद सुजान।
तुम बिन रघुकुल कुमुद बिधु, सुरपुर नरक समान॥

महाराज दशरथका जन्म जिस कुलमें हुआ था उसका असाधारण धर्म यही था कि—

रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्रान जाहिं बरु बचन न जाई॥

महाराज दशरथने यह पूरा कर दिखाया। किसी पुरुषको भाई कह देना तो अति सरल है परन्तु भाईपनेका निर्वाह करना बहुत कठिन है। पूर्ण विपत्ति पड़नेपर जो साथ न छोड़े, वही सच्चा भाई होता है। इसके ज्वलन्त दृष्टान्त लक्ष्मण हैं। बड़े भाईका भी भाईके साथ कितना प्रेम होना चाहिये—यह उदाहरण लक्ष्मणको शक्ति लगनेपर राम-विलापमें देखिये।

देशे देशे कलत्राणि देशे देशे च बान्धवाः।
तं तु देशं न पश्यामि यत्र भ्राता सहोदरः॥

भरतजीके अनिर्वचनीय भ्रातृप्रेमको श्रीरामचन्द्रजी ही जानते थे। यहाँतक कि लक्ष्मण भी नहीं।

भरतेन समो भ्राता न भूतो न भविष्यति।

यह श्रीरामचन्द्रजीका वचन है। सर्व स्वार्थोंमें राज्य-लक्ष्मी प्रबल स्वार्थ है। परन्तु चक्रवर्तीराज्यको गेंद बनाकर भरतजीने कैसे ठुकरा दिया, यह आप देखें। आज एक दमड़ीके निमित्त भी भाई भाईको मारनेके लिये तैयार है। इसी कारण भारतका अधः-पतन हो गया है। भगवान् श्रीरामचन्द्रजी सर्व-शक्तिमान् होते हुए भी लोकमर्यादासे बाहर न हुए। आपका राज्य धर्मराज्य कहलाता था। अबतक भी जो राजा धर्मानुकूल राज्य करता है उसका शासन 'रामराज्य' कहा जाता है। भगवान् श्रीरामके राज्यमें प्रजा सब प्रकारसे धर्ममयी, सुखमयी और धनधान्यसम्पन्न थी। माता-पितादि गुरुजनोंका रामराज्यमें यथोचित सम्मान होता था। अकालमृत्युसे कोई भी स्त्री-पुरुष राम-

राज्यमें नहीं मरता था । बापके जीते पुत्रकी मृत्यु नहीं होती थी । न कोई चोरी करता था, न कोई जारी ।

१० ज्येष्ठ-शुक्ला दशमी—गंगादशहरा प्रसिद्ध त्यौहार है—

दशमीशुक्लपक्षे तु ज्येष्ठमासे बुधेऽहनि ।
अवतीर्णा यतः स्वर्गात् हस्तर्क्षे च सरिद्वरा ॥
हरते दश पापानि तस्माद्दशहरा स्मृता ॥

इस दिन गङ्गास्नानका सर्वोत्तम माहात्म्य है । आश्विन-शुक्ला दशमीको भी दशहरा होता है। इस दिन भगवान् श्रीरामने दशाननको मारकर विजय प्राप्त की थी, अतएव क्षत्रियोंका यह सर्वोच्च त्यौहार है ।

११ आषाढ़-शुक्ला एकादशी—इस दिन भगवान् विष्णु क्षीरसागरमें शयन करते हैं और कार्तिक-शुक्ला-को फिर उठते हैं । इसी दिन तुलसी-विवाह किया जाता है । महाभारतमें इसका वर्णन आया है ।

१२ वामनद्वादशी—भाद्रपद-मासकी शुक्ला द्वादशी-को भगवान् वामनने अवतार ग्रहण किया था । वामनावतारका वर्णन पुराणोंमें और वेदकी मूल-संहिताओंमें मिलता है ।

१३ धनतेरस—यह प्रसिद्ध त्यौहार है । इस दिन आयुर्वेदावतार भगवान् धन्वन्तरिका जन्म हुआ था ।

१४ शिवचतुर्दशी—यह फाल्गुन-कृष्णा चतुर्दशी महाशिवरात्रि-नामसे प्रसिद्ध है । इस दिन रात्रिमें भगवान् शङ्करका चार बार पूजन होता है । यह व्रत वैदिक है । क्योंकि ब्रह्मा, विष्णु, महेश—ये तीनों देवता वैदिक हैं । शिवस्तुतिके मन्त्र चारों वेदोंकी संहिताओं-में और सब ब्राह्मणोंमें मिलते हैं । शिवपुराण, लिङ्ग-पुराण और स्कन्दपुराण तथा ईशानसंहितामें इस व्रतका विस्तारसे वर्णन किया गया है । यजुर्वेदकी रुद्राष्टाध्यायीके आठों ही अध्यायोंमें भगवान् शङ्करका वर्णन है । भगवान् विष्णुने शिवपूजन करके सुदर्शन-चक्र प्राप्त किया, सत्ययुगमें हिरण्यकशिपुने प्रह्लादको शिवपूजनकी अनुमति दी थी । त्रेतायुगमें रावण और बाणासुरने शिवलिङ्ग-पूजा की और रामने सेतुबन्ध-रामेश्वर शिवलिङ्गकी स्थापना की । द्वापरमें व्यासजीने शिवपुराणकी रचना की । अब भी जहाँ देखो वहीं प्राचीन शिव-मन्दिर मिलते हैं । वैशाख-शुक्ला नृसिंह-चतुर्दशी और भाद्रपद-शुक्ला अनन्तचतुर्दशी भी त्यौहार माने जाते हैं ।

१५ अमावस्या और पूर्णिमा—ये दोनों सदैव महापर्व हैं तथापि कार्तिक-अमावस्याको दीपावली होती है, जो वैश्योंका सबसे बड़ा त्यौहार है । श्रीरामचन्द्रजी रावणको मारकर सीता और लक्ष्मणादिके सहित अयोध्यामें आकर इसी दिन राजगद्दीपर बैठे थे । रात्रिमें खूब धूम-धामसे श्रीलक्ष्मीजीका पूजन होता है और विष्णुसहस्रनामका और गोपालसहस्रनामका पाठ किया जाता है । पूर्णिमाको श्रावणी (उपाकर्म) ब्राह्मणोंका सबसे बड़ा त्यौहार है । फाल्गुनमें होली प्रसिद्ध त्यौहार है । इस दिन सर्वप्रथम भक्त प्रह्लादने सत्यधर्मका विजय प्राप्त किया था । यह त्यौहार विशेष-कर शूद्रोंका माना गया है ।

भगवान्‌की अद्भुत कृपा

[सत्य घटना]

(लेखक—एक सज्जन)
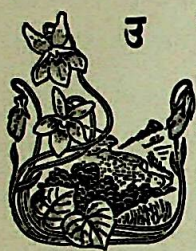
उस दिन कासगंजके श्रीगंगाजीके मन्दिरमें कुछ मनुष्य बैठे हुए थे; मैं भी उस समय वहाँ था। सन्ध्याके साढ़े चार-पाँचका समय था। भक्ति, योग और ज्योतिष विषय-पर चर्चा चल रही थी। कोई भक्तिको बड़ा बतला रहा था, तो कोई योगको और कोई ज्योतिषकी महिमाका ही बखान कर रहा था। बखान करनेवाले और बड़ा बतलानेवाले अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार तर्क तथा दृष्टान्त दे-देकर अपनी बातकी पुष्टि करना चाहते थे। अपने-अपने अनुभवकी सुनी और देखी घटनाओंका वर्णन भी कर रहे थे।

एटा-जिलाके परगना मोहनपुरके समीपस्थ नैनसुखनगलाके एक पण्डित ज्वालाप्रसाद भी वहाँ उस समय उपस्थित थे, जो गङ्गा-मन्दिरमें रहनेवाले स्वामीजीके पास प्रायः आया-जाया करते हैं। उन्होंने अपने अनुभवकी और नातिप्राचीन दो घटनाओंका वर्णन किया। जिसमें एक ज्योतिषसे सम्बन्ध रखती थी और दूसरी भक्तिसे। भक्तिकी घटनाका जो वर्णन उन्होंने किया उससे भक्तके लिये भगवान्‌की अपूर्व दयाका पूर्ण परिचय प्राप्त होता है। 'कल्याण'के पाठकोंकी जानकारीके लिये उनकी वर्णन की हुई उसी घटनाका उल्लेख यहाँ किया जाता है। घटना कोई तीस वर्ष पुरानी है। उन्होंने कहा कि—

जिला एटाके बाघबारा ग्राममें उनके एक सम्बन्धी पण्डित रामसहायजी निवास करते थे। उनके बिहारी नामके एक पुत्र थे। पण्डित रामसहायजीकी एक बहिन—बिहारीकी बुआ भी उनके यहाँ रहती थीं। पण्डित रामसहायजी एक निष्ठावान् भगवद्भक्त ब्राह्मण थे। और बिहारी? उनकी तो बात ही दूसरी थी। वे इतने भगवत्प्रेमी और भक्त थे कि लोग उनकी दशा देखकर कभी-कभी उन्हें पागल कह उठते थे। उनके काम भी बहुधा अटपटे और बालकों-जैसे हुआ करते थे। बिहारीको बहुधा ही भगवान्‌के बालरूपके दर्शन हुआ करते थे। एक दिन रातको बिहारी खेतपर ही रहे। नाजकी राशि लगी हुई थी और उसकी रक्षाका भार उस दिन उनके पिताने उन्हींको सौंप दिया था। बिहारी तो उधर खेतपर थे और इधर गृहपर उनकी चारपाईपर उनके स्थानमें उस दिन उनकी बुआ लेटी हुई थीं। रात्रि अधिक व्यतीत न हो पायी थी कि इतनेमें ही बालकरूप भगवान्‌ने मानों अनजान-से बनकर बिहारीकी चारपाईके पास आकर पुकारा—'बिहारी!' पुकार सुनकर बिहारीके स्थानपर चारपाईपर लेटी हुई बुआने कहा—'कौन है?'—और तनिक उचककर देखा तो एक अति स्वरूपवान् सुन्दर बालकको खड़े देखा। जो तुरन्त ही उनकी आवाज़ सुनकर—'अरे! बिहारी नहीं है?'—कहकर उनके देखते-देखते वहाँसे चला गया और फिर खेतपर जाकर बिहारीसे भेंट की।

सवेरे बिहारी जब खेतसे घर आये, तो उन्होंने आते ही बुआसे कहा—'बुआ! रातको तो मेरे भगवान्‌के दर्शन तुम्हें भी हो गये। वे मेरे लिये घरपर आये थे और मेरी खाटपर मेरे स्थानमें तुम्हें पाकर लौट गये और जाकर फिर मुझसे खेतपर मिले।'

इतनी बात सुनाकर फिर पण्डित ज्वालाप्रसादने

वर्णन किया कि किस प्रकार भगवान्‌ने एक बार अपने इस भक्तकी प्राण-रक्षा की। उन्होंने कहा कि—

'बिहारीके पिता पण्डित रामसहायजीके पास एक सफेद गाय थी, जिसे उन्होंने सवत्स कुछ दिन पूर्व एक ब्राह्मणको दान कर दिया था। पण्डित रामसहायजीने अपने घरके समीप ही एक कुँआ खुदवाया था, जो अभी अधबना था, उसके गोलेकी चुनायी हो रही थी। बिहारी एक दिन उस गोलेपर बैठे हुए थे कि यकायक गोला ढह गया और बिहारी कुँएमें जा गिरे; सारा गोला और आसपासकी रेत-मिट्टी उनके ऊपर गिर पड़ी। यह देखकर सभीको विश्वास हो गया कि बिहारी अब जीवित नहीं हैं। परन्तु भगवान् जिसके सहायक हैं और जिसे बालरूपमें आकर दर्शन देते और जिसके साथ खेला करते हैं, भला वह कैसे मर सकता है? लोगोंने विचार किया कि बिहारी मर तो गये ही होंगे, तथापि उन्हें निकालकर विधिविहित उनकी क्रिया और संस्कार करना चाहिये। बस, मिट्टी हटानी आरम्भ हुई और तीसरे दिन मिट्टी और ईंटे हटाते-हटाते खुदाई इतनी गहरी पहुँची कि लोगोंको मिट्टीसे बाहर ऊपरको उठे हुए बिहारीके हाथकी अँगुलियाँ हिलती हुई दीख पड़ीं। लोगोंको बड़ा आश्चर्य हुआ। हिलती हुई अँगुलियोंको देखकर लोगोंने फावड़ा धीरे-धीरे और सावधानीसे चलाया कि कहीं बिहारीको चोट न आ जावे। थोड़ी देरमें जब बिहारी तीसरे दिन कुँएसे जीवित निकले, तो उन्होंने लोगोंसे कहा कि—'वे कुँएके भीतर उन सबके वार्तालापका स्वर बड़ी स्पष्ट ध्वनिसे सुन रहे थे और लौटकर उत्तर दे रहे थे, सम्भव है जिसे उन्होंने न सुना हो!' फिर उन्होंने पिताजीसे कहा—'जानते हैं पिताजी! कुँएके भीतर उनकी प्राणरक्षा कैसे हुई?' पण्डित रामसहायजी तथा अन्य सभी जिज्ञासा-दृष्टिसे उनकी ओर देखने लगे। तब बिहारीने कहा कि 'उस दिन जो श्वेत गाय उन्होंने पुण्य की थी, उसीके द्वारा उनकी रक्षा हुई थी। वे कुँएके भीतर थे और उनके चारों ओर पैर किये खड़ी थी वह गाय और जिसके थन उनके मुँहमें थे। उसके दूधको पीकर ही वे तीन दिनतक कुँएके भीतर रहे और उनको लेशमात्र भी चोट नहीं आयी।'

सच है भगवान् अपने भक्तकी रक्षा अवश्य करते हैं। प्राण-संकट आ पड़नेपर भी वे किसी-न-किसी मिस भक्तको बचाते ही हैं। गजकी प्राणरक्षा करने-वाले भगवान्‌ने अपने प्यारे भक्त बिहारीकी भी इस प्रकारसे प्राण-रक्षा की तो आश्चर्य क्या? सच्चे हृदयसे भक्ति करना सीखो तो भगवान् तुम्हारे हैं।

मायाके प्रति जीव

(लेखक—श्रीदेवीप्रसादजी गुप्त 'कुसुमाकर' बी० ए०, एल-एल० बी०)

मुझे क्यों तूने भरमाया!
जीवन सदुपयोग हेतु मैं, लेकर था आया।
मुझको तू मिल गई यहाँ क्यों?
रची परिस्थिति नई यहाँ क्यों?
मोह जाल क्यों अपना तूने, मुझपर फैलाया?
मैं था बिलकुल भोलाभाला,
तूने फन्देमें जब डाला,
समझ न सका मुझे क्यों तूने, मोहा-अपनाया।
प्रभुसे पाया था जीवनको,
तूने लूट लिया उस धनको,
मुझे लूटने सुन्दर बन कर, क्यों आई माया॥

अनन्तकी ओर

(लेखक—ब्रह्मचारी पं० श्रीअक्षयवटजी त्रिपाठी, शास्त्री)

यदि प्लेटो-जैसे महान् पाश्चात्य दार्शनिककी चिरकालीन अनुभूतियाँ इस विशाल विश्वको—जिसमें मेरे-जैसे अगणित प्राणधारियोंका न जाने कबसे बसेरा है और कह नहीं सकता, कबतक रहेगा—अँधेरी रजनीके समान देखते रहनेमें लगी रहती हैं तो मेरे विस्तृत विश्व-परिवारमें ऐसे गम्भीर विचारकोंकी (अथवा विचारक कहनेकी अपेक्षा 'द्रष्टा' के नामसे उनको आहूत करना मुझे उचित जँचता है)—भी एक श्रेणी है, जो इसे किसी ऐसे प्रकाश-पुञ्जकी, जिसे मैं अबतक नहीं समझ सका हूँ—'मेरे लिये यह परिचित है या अपरिचित'—दिव्यज्योतिसे अहर्निश, प्रतिपल जगमगाते हुए देखा करते हैं, जिसकी तुलना संसारकी छलनामें पटीयसी सौन्दर्यमयीकी कृत्रिमतासे कभी हो नहीं सकती। अस्तु। विधाताकी सृष्टिके सर्वश्रेष्ठ प्राणी मनुष्यके भी हृदयके अन्तस्तलमें अहर्निश निवास करनेवाली दुर्बलताएँ यदि इस समय मुझे भ्रममें नहीं झोंक रही हैं तो मैं यह कहनेका साहस करते हुए भी, अपने पूर्वोक्त परिवारके सदस्योंके ऊपर कोई भारी बोझ नहीं लाद रहा हूँ कि, कोई भी मनुष्य जिसे अपनी विद्या तथा बुद्धिके द्वारा इस विश्वमें सफलता मिली हो, युक्तिपन्थी (Rationalist) हो सकता है और सांसारिक प्रमाणोंके द्वारा ही, हाँ, किसी भी दार्शनिक विवेचनाओंका आश्रयीभूत हुए बिना भी, यह सिद्ध कर सकता है कि यह विश्व-परिधि अँधेरी रजनीमें सोनेके लिये बनायी गयी काली कोठरी है, या वह रङ्गभूमि है जिसपर पात्रगण आ-आकर अपनेअभिनय करनेके पश्चात् पर्देकी आड़में छिप जाते हैं और दर्शकगण पात्रोंके अभिनयचातुर्यके कारण बार-बार हँसते और अनेक बार रोते हैं परन्तु यवनिका-पतनके पश्चात् आपसमें वार्तालाप करते हुए, हँसते-हँसते, अभिनेताओंकी अनेक दृष्टियोंसे विवेचनाएँ करते हुए अपने गृहकी ओर पदार्पण करते हैं। परन्तु मैं तो यही समझता हूँ कि विश्वको अँधेरी कोठरी सिद्ध करने अथवा नक्षत्रके समान जगमगाते हुए कहते रहनेसे ही न किसीके हृदयमें इससे विराग उत्पन्न करनेवाली असीम वेदनाएँ ही उत्पन्न हो सकती हैं, न प्रकाशयुत कहकर किसी तार्किकशिरोमणिके मुखमण्डलपर उस मन्द हास्यकी मधुर रेखा ही अविच्छिन्न रीतिसे अहर्निश निवास कर सकती है जो विकारशून्य तपस्वियोंके ओजःपुञ्ज मुखड़ेपर ही वास करती हुई देखी तथा सुनी जाती है, जिसकी सत्ताको सांसारिक परिवर्तन कभी मिटा नहीं सकते, जिसकी पवित्रतामय ज्योति पूर्णिमाकी चन्द्रप्रभाके समान सांसारिकोंको सदैव दृष्टि-पथ-गामिनी होकर प्रमुदित करती रहती है! अतः यदि आप चाहते हैं कि मैं भी लोक-कल्याणको अपने निजी कार्य समझनेवाली उदात्तात्माओं-की पंक्तियोंमें बैठकर यह समझ सकूँ कि वस्तुतः इस विश्वके मूलमें क्या है—वेदना या विनोद, रोना या हँसना, दुःख या सुख, तो इसके लिये केवल एक ही उपाय अधिक उपयुक्त हो सकता है जिसे अधिकांश सज्जन 'साधना' के नामसे आहूत करते हैं। आपको भवसागरके गर्भमें निवास करने-वाली बड़वाग्निकी विषम ज्वालाएँ कभी झुलसा नहीं सकतीं, संसारमें क्या है और क्या नहीं है—इस प्रश्नके उत्तरको प्राप्त करनेके लिये माथापच्चियाँ न करनी पड़ेंगी, और मानवीय दुर्बलताएँ आपको षड्विकारोंके गड्ढोंमें कभी झोंक नहीं सकतीं! इतना ही क्यों, आप नरसे नारायण हो सकते हैं और इसी शरीरसे। हाँ, इसके लिये आपकी सेवामें यह निवेदन कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि आप तार्किक होनेकी अपेक्षा 'साधक' होनेका प्रयत्न करें। इतनी बातोंका उल्लेख करनेके पश्चात् अब यह कह देना उचित प्रतीत होता है कि एक 'साधक' का पथ जिसे आप साधना-पथ कह सकते हैं, उस 'अनन्तकी ओर' है जिसे पाकर प्राणी अनन्त हो जाता है और उसमें यह कहनेकी शक्ति नहीं रह जाती कि मैं क्या हूँ और क्या नहीं हूँ। हाँ, दुःख कितना है और सुख उससे कितना अधिक या न्यून है—वह यह भी नहीं बतला सकता, क्योंकि मैं नहीं जानता कि उसके लोचन किस अनजान क्षितिजकी ओर टकटकी लगाये रहा करते हैं।

जबतक प्राणी विषयाग्निको प्रज्वलित करती रहनेवाली भौतिक भोग-विलासकी सामग्रियोंको सञ्चित करते रहनेमें अपना जीवन-सर्वस्व लगाये रहता है, तबतक वह क्षणिक आवेशमें आकर संसारकी असारता एवं उसकी असीम वेदनाओंकी ओर दृष्टिपात करके जीभर रो सकता है तथा इसके सूर्य-चन्द्रके प्रकाशसे प्रतिदिन और प्रत्येक रात्रिके

अधिकांश भागके विभिन्न प्रकारसे प्रकाशित होते रहनेकी वार्तोंको सोच-सोचकर विराट्की विचित्र लीलाओंके ऊपर बार-बार मुग्ध हो सकता है और एक नहीं, अनेकों बार खिलखिलाकर हँस भी सकता है; परन्तु न तो इन सब क्रिया-कलापोंसे किसी प्राणीके हृदयमें विरागका ही अङ्कुर लहलहा सकता है और न विश्वजनीन अनुराग ही उसके अन्तस्तलमें क्रीडा कर सकता है। यदि आप चाहते हैं कि मेरा भी पदार्पण अनन्तकी ओर हो तो आपके लिये यह उचित है कि आप विश्वदेवके दरबारको इसका प्रमाण दें कि मैं संसारकी वह्नि-तप्त चिनगारियोंसे भलीभाँति तपाया गया सुवर्ण हूँ। आप सर्वज्ञ प्रभुके ऊपर विश्वास करें और विश्वास करनेका अभ्यास करें उस अपने प्रभुके करोड़ों बन्दोंके ऊपर जिनकी रग-रगमें वह समाया हुआ है। हाँ, आप उसी प्रियङ्कर प्रभुके लिये विषय-वासनाओंको बढ़ानेवाले क्षणिक सुखोंका परित्याग करें। संसार आपका है, आप उसके हैं। उसकी बिभीषिकोत्पादिनी वेदनाएँ आपकी हैं और आपकी केवल वेदनाएँ ही नहीं अपितु सर्वस्व उस विश्वदेव हरिका है जिसकी उपासनाएँ कोई 'नमोस्त्वनन्ताय सहस्रमूर्तये…' कहकर किया करते हैं और कोई 'अल्लाहो अकबर' की रट लगाकर किया करते हैं। आप उसके लिये पूर्वकी ओर प्रस्थान करें या मग़रबी कूचहको आबाद करें, बात एक ही है। अनन्त अनन्त है, उसमें न कहीं मायाकी छलनाका प्रवेश है, न अपूर्णताका नामोनिशान। फिर दुःखदायिनी वेदनाएँ कहाँ रहती हैं? 'अनन्तकी ओर' और भवनिशा-की निराशाएँ—इन दोनोंका सामञ्जस्य कभी हो नहीं सकता। हाँ, यूनानके महान् तत्त्ववेत्ता प्लेटोका विश्व—जिसकी पुष्टि अनन्त पथके पथिक तुलसीकी इन निम्नाङ्कित पंक्तियोंसे भी होती है—

अबलौं नसानी, अब न नसैहौं।
राम-कृपा भव-निसा सिरानी, जागे फिरि न डसैहौं॥
पायउँ नाम चारु चिंतामनि, उर कर तें न खसैहौं।
स्यामरूप सुचि रुचिर कसौटी, चित कंचनहि कसैहौं॥
परबस जानि हँस्यो इन इंद्रिन निज-बस है न हँसैहौं।
मन मधुकर पन कै 'तुलसी' रघुपति पद-कमल बसैहौं॥

(विनय-पत्रिका)

—तभीतक है जबतक आप विषय-वस्तु-सञ्चयमें निमग्न हैं और तुलसीकी इस सूक्ति 'हरि अनंत, हरि कथा अनंता' का जीवनमें अनेकों बार पाठ करते हैं किन्तु उन अनन्त प्रभुकी 'उपासना' भी साधन-पथकी पूर्णताके लिये नहीं किन्तु भुवन-विमोहिनी वासनाओंकी आराधनोपयोगिनी सामग्रियोंकी प्राप्तिके लिये ही किया करते हैं, नहीं तो इसके बादका विश्व सर्वदा प्रकाशमय है और सदा सच्चिदानन्द-स्वरूप आत्मदेवका यहाँ मनोहर नृत्य हुआ करता है, जिसमें न कहीं अशान्ति है, न विकारोंका नग्न-ताण्डव। हाँ, 'अनन्तकी ओर' मुड़नेके पश्चात् प्राणी उस क्षितिजपर पहुँच जाता है जहाँ सदैव सुख-शान्ति विराज रही है और उसमें कोई पराया तथा अज्ञात रहता ही नहीं। परन्तु आज यहाँ कितने ऐसे प्राणी हैं जो इस विश्वमें प्रवेश करनेका प्रयत्न करना चाहते हैं? यदि मैं भ्रममें नहीं हूँ तो बहुत कम हैं—यही कह सकता हूँ; किन्तु यदि मनुष्यका स्वभाव एकमात्र स्वार्थपरायण तथा तमोगुणी नहीं है, जैसा कि हॉब्स तथा हेल्वेशियन-जैसे पाश्चात्य ग्रन्थकार व्यक्त करते हैं—अपितु प्रकृत्या परमार्थपरायण सात्त्विक वृत्तियाँ भी जन्मसे ही उसके हृदयमें निवास करती हैं और यही बात आत्माके परमात्माका ही अंश होनेके कारण प्रत्येक शरीरीके विषयमें चरितार्थ होती है तो किसीके सहसा यह मानकर बैठ रहनेके लिये कोई आधार नहीं है कि आजके सबसे अधिक स्वार्थी संसारमें कोई भी प्राणी ऐसे हो ही नहीं सकते जो विशुद्ध एवं स्वार्थहीन हों, जिसकी 'साधक' बननेके लिये अत्यन्त आवश्यकता है। और जब कि आज ऐसे प्राणी भी देखे जाते हैं जो पवित्र तथा अपने विचारानुसार विश्वजनीन होनेके कारण हृदयानन्ददायक महान् आदर्शोंके लिये अपने सम्पूर्ण भौतिक सुखोंका त्यागकर हँसते-हँसते मृत्युके मुखमें प्रवेश करते हैं तो कौन कह सकता है कि उनकी चित्तवृत्तियाँ धर्मके नियन्ता अनन्तकी प्रेरणाओंसे अनुप्राणित नहीं रहा करतीं।

अस्तु, अनन्तका पथ अथवा चिर-कल्याण-साधन-पथ असाध्य नहीं है, इसे सभी साहससम्पन्न (Adventurous) प्राणी जानते हैं, किन्तु यह कहनेकी भी आवश्यकता नहीं है कि वह अत्यन्त दुरूह है। क्योंकि यदि वह एकदम राजमार्गके समान सुगम होता तो वैभवकी गोदमें पले हुए तथा उसीके क्रोडमें जन्मसे लेकर अन्तिम क्रियापर्यन्त क्रीडा करते रहनेवाले विषयोपासक प्राणियों तथा अपनी धुनके पक्के होनेके कारण आतप, वर्षा, शिशिरादिके द्वारा दी गयी प्रकृतिकी सर्वसाधारणसे

असह्य प्रतारणाओंको भी मालतीपुष्पकी मालिकाके समान प्रभुकी कृपासे प्राप्त हुई सुगन्धित वस्तु समझनेवाले नर-रत्नोंमें एवं विषयाराधन तथा वैराग्योपासनामें कोई अन्तर ही न रह जाता। संसारमें प्रवेश करनेके पश्चात् दो मार्ग सभी प्राणियोंके दृष्टिगोचर होते हैं। पहला प्रवृत्ति-मार्ग और दूसरा मार्ग निवृत्तिका है। पहलेमें आकर्षण है, प्रलोभन है, वञ्चना है और हैं अनिश्चित कालतकके लिये बाँध रखनेवाली लोहेकी नहीं सोनेकी जञ्जीरें लेकर आमने-सामने, चारों ओर खड़ी रहनेवाली नर्तकियाँ; परन्तु दूसरी ओर ऐसी बात नहीं है। हाँ, न इधर कोई आकर्षण है, न आडम्बर; न हैं कोई बाँधकर कैदीके समान सीमाबद्ध करके रखनेवाले अधिकारीवृन्द। इस ओर न कामका कोई काम है न क्रोधादि अन्य विकारोंके लिये ही कोई चारा है। फिर बन्धन भी कहाँ टिक सकते हैं। अब इस विषयमें अन्य प्राणधारियोंकी अपेक्षा बुद्धिमान् तथा धार्मिक होनेके कारण कोई भी मनुष्य स्वयं सोच सकता है कि मुझे किस मार्गकी ओर जाना चाहिये—प्रलोभनोंसे भरे हुए पथकी ओर अथवा दूसरी ओर। आवश्यकताओंको बढ़ाये रहनेसे शान्ति मिल सकती है या विषय-वैराग्यके द्वारा अनन्तकी ओर चलनेसे, यह बात उसके लिये विचारणीय है। उपर्युक्त बातोंसे यह सुस्पष्ट हो गया होगा कि अनन्तके पथमें 'यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्'—श्रीमद्भगवद्गीताकी यह उक्तिका चरितार्थ होती है अथवा यह कहनेकी अपेक्षा यह स्वीकार कर लेना ही उचित जँचता है कि इस सूक्तिके दृष्टान्तके लिये इससे बढ़कर जगन्मात्रमें किसी अन्य स्थलका मिल सकना ही असम्भव प्रतीत होता है। यही क्या, आप उन साधकोंकी जीवनियोंपर दृष्टिपात करें, एक बार नहीं अनेकों बार उनकी ओर मुड़-मुड़कर दृष्टि फेरें, तो यदि आपकी चित्त-प्रवृत्तियाँ सात्त्विक होंगी तो बार-बार प्रयत्न करनेपर भी अश्रुधाराओंकी लड़ियोंको आपके नेत्र कदापि न रोक सकेंगे। आप विह्वल हो उठेंगे और यह सोचते-सोचते आपकी नींदें आँखोंसे ओझल हो जायँगी कि, अपनेको बन्धनमें फँसानेवाली चित्त-वृत्तियोंके दास बने हुए वे असंख्य नर-नारी सुखी हैं, जो बात-बातमें क्षणिक तथा मानसकल्पित सुखोंके लिये, प्रभुके बंदोंसे लड़ाई-झगड़े मोल लेकर उनके आढ़तिये बने रहते हैं या वे जो सांसारिकोंसे अकर्मण्य कहकर पुकारे जाते हैं और समझे जाते हैं तथा इस प्रगतिशील विश्वके विस्तृत पथके कण्टक बने हुए क्षुधाग्निकी ज्वालाओंमें अपनेको तपाते रहते हैं और बार-बार उन प्राकृतिक विघ्न-बाधाओंको बिना किसी आलस्यके विश्वके सम्मुख खड़े होकर अपनी अभिलाषासे प्रसन्नतापूर्वक अङ्गीकार करते हैं, जिनके नाम सुनकर भी विषयलोलुप प्राणी तिलमिला उठते हैं। मैं यदि इन दोनों प्रकारके प्राणियोंके विषयमें कुछ कह सकता तो केवल यही कहता कि 'ईश्वर अंश जीव अविनाशी'—परम साधक तुलसीकी यह उक्ति अक्षरशः सत्य है; किन्तु एक विषयासक्त होकर, शरीरी होकर भी अपनेको शरीर समझता हुआ उसीके शृङ्गारमें संलग्न होकर हाय-हाय कर रहा है और दूसरा कल्पित सुख-दुःखके खोखलेपनको देखनेके पश्चात् शून्य आकाशमें, उजड़े गृहमें और 'हममें तुममें खडग खंभमें सबमें व्यापे राम' यह समझता हुआ किसी अलौकिक और सर्वाङ्गपरिपूर्ण प्रकाशके सौन्दर्यको देख-देखकर बार-बार; अनन्त बार अपने मन्द हासके प्रकाशसे जडोंको भी आनन्दान्दोलित कर रहा है। हाँ, सांसारिकोंका कोई मित्र है और कोई शत्रु, परन्तु वहाँ तो न कोई मित्र है न शत्रु। न किसीसे राग, न किसीसे द्वेष। अनन्तके प्रसादसे सर्वत्र एकरस है। यहाँ तो न द्वैत है, न अद्वैत और न द्वैताद्वैत; जो कुछ है, बस, वही उसे जान सकता है। औरोंकी बात तो और है परन्तु उसे छोड़कर वह कहीं जाना भी तो नहीं चाहता, न यह जनानेका प्रयत्न करके भी किसीको भलीभाँति जना ही सकता है कि मैं द्वैत हूँ या अद्वैत या द्वैताद्वैत, मैं कहाँ हूँ और किस पदार्थको देख रहा हूँ। इसके प्रमाणके लिये तुलसीकी निम्नाङ्कित दोनों सूक्तियोंको पढ़िये तथा अनेकों बार गा-गाकर झूमते रहिये और एक 'अनन्तकी ओर' के दीवानेके विचारोंमें अवगाहन कर सदैव अपने तार्किक-प्रधान मनको सान्त्वना देते रहिये—

जाउँ कहाँ तजि चरन तुम्हारे।
काको नाम पतितपावन जग, केहि अति दीन पियारे॥
कौने देव बराइ बिरद हित, हठि हठि अधम उधारे।
खग मृग ब्याध पषान बिटप जड, जवन कवन सुर तारे॥
देव दनुज मुनि नाग मनुज सब, माया बिवस बिचारे।
तिनके हाथ दास तुलसी प्रभु, कहा अपनपौ हारे॥

× × ×

केसव! कहि न जाइ का कहिये।
देखत तव रचना बिचित्र अति, समुझि मनहि मन रहिये॥

सून्य भीतिपर चित्र रंग नहि, बिनु तनु लिखा चितेरे ।
धोये मिटइ न मरइ भीति, दुख पाइय यहि तनु हेरे ॥
रबिकरनीर बसै अति दारुन मकर रूप तेहि माहीं ।
बदन-हीन सो ग्रसै चराचर, पान करन जे जाहीं ॥
कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल कोउ मानै ।
तुलसिदास परिहरै तीन भ्रम, सो आपन पहिचानै ॥
(विनयपत्रिका १०१, १११)

इसी प्रकार यद्यपि कोई प्रभुकी अनन्त लीलाको देख-देखकर निहाल होते रहनेवाला पुरुष न निराकारकी सीमासे बद्ध है न साकारसे; परन्तु जिस निर्विकार नित्य ज्ञानस्वरूप मूर्तिको वह देखा करता है, जिसका ज्ञान सर्व-साधारणको भी साधक सन्तोंकी सूक्तियोंसे ही होता रहता है, उसे निर्विकार, निराकार कहकर ही उसके पास पहुँच सकते हैं अथवा साकार, जगद्व्याप्त और मनुष्योंके साथ नाचता हुआ समझकर ही उसके स्वरूपको एक बार देखकर उसके लिये बाहर दरवाजेपर खड़े होकर प्रतीक्षा कर सकते ही नहीं अपितु करते रहते हैं । इसके प्रमाणके लिये निम्नाङ्कित उद्धरणोंमें प्रविष्ट हुई सूर तथा इमर्सन (Emerson)की आत्माओंके सन्देशोंको ग्रहण करें ।

अँखियाँ हरि-दरसनकी भूखी ।
कैसे रहैं रूपरस-राती, ए बातें सुनि रूखी ॥
अवधि गनत एकटक मगु जोवत, तब इतौं नहिं झूखी ।
इते मान इहि जोग सँदेसन ऊधो,सुनि अकुलानी,दूखी ॥
'सूर' सकत हठ नाव चलावत ए सरिता हैं सूखी ॥
बारक वह मुख आनि दिखावहु, दुहि पै पिवत पतूखी ।
(सूरदास)

My heart crieth out for God, yea, for the living God.(Emerson)

और दोनोंकी उक्तियोंका साकार और निराकार, पूर्व और पश्चिम दोनों दृष्टियोंसे विचार करके देख लें, युक्तिवाद-का समर्थन होनेकी अपेक्षा, अथवा यह कहिये कि अपनी बातको चाहे जिस प्रकार हो सके तर्कके बलसे सत्य सिद्ध करनेकी अपेक्षा दर्पणके समान आत्माकी अनुभूतिकी ही प्रधानता दोनोंमें मिलेगी; और श्रीभगवद्गीताके—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥

—इस उक्तिमें उत्तरोत्तर, तर्कप्रधान बुद्धिका भी विश्वास स्थिर हुए बिना न रह सकेगा । अस्तु । यदि अनन्तकी ओर अभेद है तो यह कहनेकी तो कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती कि कहीं कोई भेद है । वहाँ तो—

एकस्त्वमात्मा पुरुषः पुराणः
सत्यः स्वयंज्योतिरनन्त आद्यः ।
नित्योऽक्षरोऽजस्रसुखो निरञ्जनः
पूर्णोऽद्वयो मुक्त उपाधितोऽमृतः ॥

—बस, यही बात रह जाती है और यही समझकर इसके ऊपर साधक तन, मन, धन—सब कुछ निसार कर देता है, किन्तु किसीसे कुछ कहने नहीं जाता । तुलसीके सुरमें सुर मिलाकर यह अवश्य गाता रहता है—

ऐसो को उदार जग माहीं ।
बिनु सेवा जो द्रवै दीनपर, राम सरिस कोउ नाहीं ॥
जो गति जोग बिराग जतन करि नहि पावत मुनि ग्यानी ।
सो गति देत गीध सबरी कहँ प्रभु न बहुत जिय जानी ॥
जो संपति दस सीस अरप करि रावन सिवपहँ लीन्ही ।
सो संपदा विभीषनकहँ अति सकुच सहित हरि दीन्ही ॥
तुलसिदास सब भाँति सकल सुख जो चाहसि मन मेरो ।
तौ भजु राम, काम सब पूरन करैं कृपानिधि तेरो ॥
(विनयपत्रिका १६२)

राम ही इस पदमें क्या, सकल वसुधातलमें, हाँ इससे भी आगे अनन्त हैं । 'अक्षरं ब्रह्म परमम्' इस भगवदुक्तिका स्मरण करते हुए सर्वत्र अनन्तहीकी विरदावली विराजित हो रही है । किसीके हृदयमें यदि उनके प्रति ऐसा प्रगाढ़ प्रेम हो तो इस बातकी सत्यतामें तो कोई सन्देह है ही नहीं । वाल्मीकि साधक बनना चाहते थे । उन्हें विश्वके विषयोंसे वैराग्य हो गया था । अतः 'मरा' 'मरा' जपते-जपते उन्होंने केवल'अनन्तकी ओर' पदार्पण ही नहीं किया, बल्कि अनन्तके समान हो गये । यह सुन लेनेके बाद अब किसीको सन्देह नहीं रह सकता और इससे एक यह युक्ति भी स्वयं प्रकट हो जाती है कि 'हरि-नामोच्चारण' मनुष्यके कल्याणका पाथेय है । इसीसे महाकवि तुलसीकी प्रतिभा नामका गुणगान करते-करते नहीं अघाती और वह तो यहाँतक कह देनेमें अपना सौभाग्य समझती है कि 'पायो नाम चारु चिंतामनि उर कर तें न खसैहौं'—और इसके साथ ही रामायणमें वह यहाँतक कह डालते हैं कि—

धन्यास्ते कृतिनः पिबन्ति सततं श्रीरामनामामृतम् ।

खेद है कि बार-बार इसकी ओर आकर्षित होते हुए भी हम सब 'मूरखको पोथी दई, बाचनको गुनगाथ'—इस उक्तिको चरितार्थ कर रहे हैं । कोई भी प्राणी अपने कर्मानुसार देवता, यक्ष, किन्नर, गन्धर्व, भूत-प्रेत-पिशाचादिक चौरासी लक्ष योनियोंमें एक नहीं असंख्य बार घूम सकता है, जन्म लेता और मरता रहता है । परन्तु बड़े भाग्यसे मनुष्यका शरीर पाता है । इसकी पुष्टि 'बड़े भाग मानुष तन पावा'—तुलसीदासजीकी उक्तिसे भी होती है, और जहाँतक सन्तोंकी वाणियोंसे ज्ञात होता है, यही जाना जाता है कि हमारा यह विश्व कर्मभूमि है और मनुष्य कर्मफल भोगनेके साथ-साथ कर्म करनेके लिये इसमें अवतीर्ण होता है । इसीसे यह महान् है, जिसमें मनुष्य होकर विचरनेके लिये देवादिक भी तरसते रहते हैं । इससे बाहर मोक्षके पूर्व सर्वत्र भोग्य भोगोंको भोगनेके लिये ही प्राणी शरीर धारण करके जन्म-मरणकी दुःसह वेदनाओंको सहन करते रहते हैं और माताकी जठरमें होनेवाली असीम वेदनाओंको सहा करते हैं । अस्तु, अब भी क्या यह कहनेकी आवश्यकता रह गयी है कि मनुष्यका जीवन अनन्तकी प्राप्तिके लिये है, जिसे प्राप्त करके और कुछ पाना शेष नहीं रह जाता । किन्तु कोई उसे तभी प्राप्त कर सकता है जब कि वह इस तीनरोजे संसारके ऊपर लट्टू न हो, अनन्तकी ओर पदार्पण करनेके लिये भौतिक सुखोंको भवके लिये छोड़ दे ।

पूजा

(लेखक—पं० श्रीविष्णुदत्तजी शुक्ल)
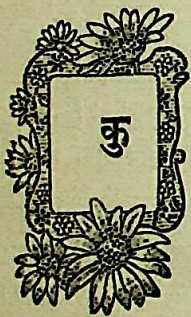
छ समय पहलेकी बात है । मेरे एक प्रतिष्ठित मित्र विलायतसे डाक्टर होकर लौटे थे । डाक्टर चिकित्सा-शास्त्रके नहीं विज्ञान और दर्शनके । उन्होंने मुझे भी दर्शन देनेकी कृपा की । मैं शायद उस समय पूजा कर रहा था और उन्हें थोड़ी देर प्रतीक्षा करनी पड़ी थी अथवा कोई और बात थी,—याद नहीं । परन्तु बातचीतमें जो प्रसङ्ग छिड़ा वह पूजा-विषयक ही था । अंग्रेजीके जानकार, वर्तमान सभ्यताके उपासक तिसपर भी ताजे ही विलायतसे लौटे थे और प्रसङ्ग यह कि उन्हें कुछ समय प्रतीक्षा करनी पड़ी थी । सब परिस्थितियाँ ही विचित्र हो गयी थीं । उन्होंने छूटते ही कहा 'क्यों तिलक-मुन्दरा लगाकर समय नष्ट किया करते हो, इतने समयमें कोई उपयोगी काम कर लिया करो जिससे तुम्हारा भी लाभ हो और साथ ही देश और राष्ट्रका भी हित हो।' बात मेरे लिये नयी न थी । वंशपरम्पराके संस्कारोंके कारण पूजा-पाठका अभ्यास बराबर रहा है और दुर्भाग्य कहिये या सौभाग्य, इस अवस्थामें शुरूसे ही रहना पड़ा पाश्चात्य सभ्यताके माननेवालोंके साथ । जबतक पढ़ता रहा स्कूलों और कालेजोंके छात्रोंके बीचमें और उसके बाद अपने मित्र उपर्युक्त डाक्टर साहब-जैसे सज्जनोंके बीचमें । इसलिये इससे पहले भी कई बार यह बात सुननेके अवसर पड़ चुके थे । अपने स्वभावके अनुसार मैं, इस बार भी बातको हँसीमें ही टाल देना चाहता था । परन्तु मित्र महाशय बहस कर ही लेना चाहते थे । अन्ततः और कोई प्रसङ्ग न छेड़ इसी विषयपर कुछ बातें करनी पड़ीं । बातें क्या हुईं, कैसे-कैसे सवाल-जवाब हुए और अन्त क्या हुआ आदि बातोंके लिखनेकी आवश्यकता नहीं है और वे याद भी नहीं हैं । परन्तु उस समय पूजाके सम्बन्धमें कुछ बड़ी मजेदार बातें सुनने और कहनेको मिलीं । आज एकाएक उन्हींका स्मरण हो आया है ।

यह तो बहुत दिनोंसे मेरी धारणा है कि लोग जितना अधिक शिक्षित होते जाते हैं (मेरा मतलब पाश्चात्य ढंगकी उस शिक्षासे है जो सामान्यतः आजकल हमें मिल रही है ।) उनमें धर्मकी भावना उतनी ही कम होती जाती है । (धर्मसे मेरा इशारा केवल जप-यागादिकी ओर ही नहीं है नैतिक आचार-विचारकी ओर भी है) धर्म और ईश्वर ढोंग है । ईश्वर कायरों और बुज़दिलोंके मस्तिष्ककी निकम्मी उपजके सिवा और कुछ नहीं है आदि बातोंका प्रचार हमारे उपर्युक्त कथनका प्रमाण है । परन्तु इसमें

किसीका कोई दोष नहीं है। यह युग ही श्रद्धा और भक्तिका युग नहीं है। संसारमें विशेष-विशेष युगोंमें विशेष-विशेष मनोभावोंका आधिक्य और उन्हींका अधिकार रहता है। श्रद्धा मनुष्यका स्वाभाविक गुण है। बालक जब अपने बाल्यकालमें होता है उस समय उसे जो कुछ बता दिया जाता है, बिना तर्क-वितर्क और वाद-प्रतिवादके वह उसको उसी रूपमें स्वीकार कर लेता है। उससे कह दीजिये 'अमुक स्थानपर न थूको' वह न थूकेगा, 'अमुक स्थानपर न जाओ' वह न जायेगा। यही श्रद्धा है। इसके बाद बालक जब सयाना होने लगता है, उसकी बुद्धिका जब विकास होने लगता है तब वह प्रत्येक बातका कारण जानना चाहता है। उस समय केवल 'थूको मत' या 'जाओ मत' कह देना पर्याप्त नहीं होता। वह जानना चाहता है कि न थूकने या न जानेका आदेश क्यों दिया जा रहा है। उसके चित्तमें जिज्ञासा उत्पन्न होती है। वह उस आदेशके कारणकी खोज करता है। परन्तु बुद्धिका पूर्ण विकास न होनेके कारण उसको यदि इतना ही समझा दिया जाय कि इससे बीमारी फैलती है या अमुक खतरा है तो उसे सन्तोष हो जाता है। अपेक्षा वह एक कारणकी करता है, कारण सही है या गलत यह पहचाननेकी योग्यता उसमें नहीं होती। फिर जब बुद्धिका पूर्ण परिपाक हो जाता है तब उसे पूरे तर्क-वितर्क, युक्ति-प्रत्युक्तिके साथ सब कारण बताना पड़ता है, तभी उसे सन्तोष होता है। ठीक यही अवस्था हमारे समाजकी भी है। प्रारम्भिक अवस्थामें आप्त वचनोंपर श्रद्धा अधिक होती है। उसे हम श्रद्धाका युग कह सकते हैं। उसके बाद लोगोंमें तर्कका भाव जाग्रत होता है। वे सब बातोंको उपर्युक्त बालककी भाँति युक्ति-प्रत्युक्तियोंद्वारा सिद्ध कराना चाहते हैं। यह स्वाभाविक भी है। शताब्दियोंसे चली आनेवाली बातोंकी सत्यतापर अनेक कारणोंसे धीरे-धीरे असत्यताका थोड़ा-थोड़ा आवरण भी चढ़ जाता है। उस समय समाजके लोग आप्त वचनोंकी पुष्टि तर्कों और युक्तियोंद्वारा चाहते हैं, इसे तर्कका युग कहा जा सकता है। इस युगमें यदि आप्त-वचनोंपर श्रद्धा रखनेवाले आचार्यगण तर्क-वितर्कद्वारा अपनी बातकी पुष्टि नहीं कर सकते तो उनके सिद्धान्तोंपर स्वभावतः लोग अविश्वास करने लगते हैं। हमारे समाजकी इस समय कुछ ऐसी ही अवस्था है। परन्तु इस अवस्थाके बाद फिर परिवर्तनका युग आता है। आप्त-वचनोंकी पुष्टिके प्रमाण मिलने लगते हैं। जो सत्य है वह अज्ञानान्धकारसे अधिक देरतक घिरा नहीं रह सकता। उसका प्रकाश कालान्तरमें फैलने लगता है और लोगोंको सत्यके स्पष्ट दर्शन होने लगते हैं। इस अवस्थामें, श्रद्धातिरेकके कारण सत्यतापर छा जानेवाला असत्यताका आवरण नष्ट हो जाता है और सत्य अपने शिव और सुन्दर रूपमें निखर पड़ता है। इस सत्यपर लोगोंकी श्रद्धा फिर होने लगती है। इसके बाद भी कुछ दिनोंतक तो तर्क-वितर्ककी बात रहती है परन्तु फिर वह सत्य इतना स्पष्ट हो जाता है कि फिर उसके प्रमाणके लिये तर्क-वितर्ककी आवश्यकता नहीं पड़ती। बात कही गयी और हेतु और कारणकी सब बातें तुरन्त सामने आ गयी। यह अवस्था श्रद्धा और तर्कके बीचकी अवस्था होती है। कुछ दिन यह धर्म-सम्मत कथन-परिपाटी चली कि फिर श्रद्धाका युग आ गया। लोगोंने एक बात कही और उसपर विश्वास किया जाने लगा। पहले तो यह विश्वास इसलिये होता है कि लोगोंको पता रहता है कि यह युक्तियों और तर्क-वितर्कद्वारा सिद्ध किया हुआ है, उसके बाद पीछे की बात तो भूल जाती है, कहनेपर स्वतः ही विश्वास होने लगता है। इस विषयको थोड़ा और स्पष्ट करनेकी आवश्यकता है। जैसे किसीने कहा थूको मत, क्योंकि थूकमें विषैले कीटाणु होते हैं जो वायुके सहारे सर्वत्र फैलकर रोग पैदा करते हैं। यह बात समझा दी गयी। परन्तु बार-बार विषैले कीटाणु वायुका सहारा और रोगका फैलना कहते रहना मनुष्य-स्वभावके विपरीत है। मनुष्य बात कहनेमें शीघ्रता चाहता है। थूकनेकी बुराई पहले कई बार कही जा ही चुकी है। अतः आगे चलकर स्वभावतः बात केवल इतनी ही रह जाती है—'थूको मत।' जब यह अवस्था आ जाती है तभी श्रद्धाका युग आरम्भ हो जाता है। इस प्रकार श्रद्धा और तर्कका समय-विनिमय निरन्तर होता रहता है। हमारे समाजमें इस समय तर्ककी प्रधानता है। अतः सब वस्तुएँ इसी कसौटीपर कसकर देखी जाती हैं।

हाँ, तो मैं पूजाकी चर्चा कर रहा था। अधिकांशमें बात यह है कि लोग कहनेको तो कहते हैं कि पूजा करते हैं परन्तु वास्तवमें इस बहाने वे माँगने बैठते हैं—पुत्र, कलत्र, यश, वैभव, विद्या, बल आदि। यह अवस्था वस्तुतः उत्तम नहीं होती। जो लोग इस उद्देश्यसे पूजा करते हैं कि उनको हाथ-पैर भी न

हिलाना पड़े, और त्याग और तपस्याहीन ईश्वरकी पूजाके प्रहसनमात्रसे उनके घर कुबेरका कोष, इन्द्रकी प्रभुता, भीमका पराक्रम और श्रीकृष्णका यश टूट पड़े; वे पूजाके वास्तविक उद्देश्यसे बहुत दूर हैं और ईश्वरको ठगनेकी मूर्ख-चेष्टा करते हैं, और ईश्वर इतना भकुआ भी नहीं है जो इनके कहनेमात्रसे योग्यायोग्यका विचार छोड़कर इनके घर सब कुछ भर देगा। अस्तु, यह परिपाटी तो अनुचित है ही। परन्तु जो लोग अपनी उन्नतिके लिये सचेष्ट रहते हुए इसलिये ईश्वरोपासना करते हैं कि देव और लोक दोनोंकी अनुकूलता प्राप्त हो जाय, वे बेजा नहीं करते, यह सत्य है। फिर भी किसी कारण और किसी अवस्थामें क्यों न हो स्वार्थभावमिश्रित पूजाकी यह प्रणाली वास्तविक ईश्वर-पूजासे बहुत दूरकी वस्तु है। और अगर इसे पूजा मान भी लिया जाय तो यह निम्न कोटिकी पूजा होगी। वर माँगना तो पूजाका लक्ष्य होना ही न चाहिये। हाँ, वर-प्राप्ति पूजाका अयाचित फल अवश्य हो जाता है। ईश्वरके उस प्रसादका ग्रहण सर्वथा कल्याणकर और सुखकर होता है। वास्तविक पूजा तो ईश्वरका गुणानुवाद करना, उनके पुनीत चरणोंमें आत्म-सर्वस्व निवेदन कर देना, अपनापन खोकर सोलहो आना उनकी पवित्र शरणमें चले जाना है। यह बात वर माँगनेमें नहीं रहती। उससे तो यह व्यक्त होता है कि हमारी दृष्टिसे ईश्वरको यह ज्ञान नहीं है कि वह हमारे लिये क्या करे, हम उसे बताते हैं कि तू ऐसा कर। यह अवस्था भक्तिके अनुकूल नहीं है। यह तो परमात्माकी सर्वज्ञता, उसकी योग्यता और उसकी दयालुताका उपहास करना हुआ। इसके अतिरिक्त अल्पातिअल्प-बुद्धि रखनेवाले तुच्छ प्राणी हम जान ही क्या सकते हैं कि कौन-सी बात हमारे हितकी होगी कौन-सी नहीं, और बिना जाने यदि हम कुछ माँग बैठते हैं तो कौन जाने यह वरदान हमारे लिये हितकर होगा या कुम्भकर्णकी निद्राकी भाँति अहितकर। अतः अन्ततः विचार करनेपर मालूम होगा कि यह प्रणाली अपने स्वार्थके लिये भी हानिकारक ही है। हमारा कर्तव्य तो केवल भक्ति और श्रद्धापूर्वक ईश्वरका गुणानुवादमात्र होना चाहिये। उसके बाद जो अयाचित या ईश्वरप्रेरित वर मिलेगा वही वास्तवमें हमारे हितका वर होगा। ईश्वर हमारी भलाईकी बात हमसे कहीं अधिक योग्यताके साथ सोच सकता है, क्योंकि वह सर्वज्ञ है, सर्वशक्तिमान् है और हमारा ज्ञान बहुत ही परिमित एवं शक्तियाँ अत्यन्त अल्प हैं। इस बातपर सदा विश्वास रखना चाहिये कि ईश्वर जो कुछ करता है भलाईके लिये करता है। परन्तु भलाईकी कामना मनमें रखकर न माँगते हुए जो पूजा होती है, उसमें भी छिपी कामना तो रहती ही है, इसलिये यह पूजा भी निम्न-कोटिकी ही है। सर्वोच्च पूजा तो वह है, जो सर्वथा निष्काम और अनन्य प्रेमभावसे स्वाभाविक ही हो, जिसमें कुछ भी पानेकी कभी कल्पना ही न रहे।

उपर्युक्त पूजा-प्रणालीको लक्ष्य करके नहीं वरं पूजाद्वारा फल-प्राप्तिको ध्यानमें रखकर कुछ समालोचक बड़े मजेकी बात कहा करते हैं। उनका अभियोग है कि पूजा करना ईश्वरकी चापलूसी करना और उसको रिश्वत देना है। चन्दन, फूल, धूप, दीप और फिर नैवेद्य उससे भी आगे बढ़कर दक्षिणा आदि रिश्वत-खोरी ही तो है। भला ऐसे भले आदमियोंसे क्या कहा जाय। आर्यसभ्यता और हमारी प्राचीन संस्कृति तो हमें इस पूजा-प्रणालीको केवल प्रेम और सम्मान-प्रदर्शनकी एक विधिमात्र बताती है। परन्तु अब वह रिश्वत कही जाय तो उसका क्या उपाय है। भ्रातृद्वितीयाके दिन हमारी बहिनें हमें रोचना-अक्षत चढ़ाकर मिठाइयाँ और उपहार दे जाती हैं, राखीके साथ रक्षाबन्धनके दिन ऐसे ही उपहार आते हैं, विवाहादि अवसरोंपर अपने मान्य सम्बन्धियोंके आगमनपर प्रायः इसी विधिसे हम उनका सम्पादन करते हैं। अपने माता-पिता तथा अपने अन्य गुरुजनोंका सम्मान भी हम प्रायः इसी रूपमें करते हैं। आर्यसभ्यताके अनुसार सम्मान प्रदर्शित करनेकी विधि ही यह है तो क्या हम इन सब अवसरोंपर सबको रिश्वत ही दिया करते हैं? हाँ, हम प्रार्थनाके अवसरपर 'पापोऽहं पापकर्माहम्' आदि कहकर ईश्वरसे यह प्रार्थना अवश्य करते हैं कि वह हमारे अपराधों और पापोंको क्षमा कर दे। सम्भवतः इसी कारणसे रिश्वतका अभियोग लगाया जाता है परन्तु इस अवस्थामें भी वह रिश्वत नहीं है। वह तो अपने अपराधों और पापोंके लिये प्रायश्चित्त या पश्चात्तापस्वरूप की गयी क्षमा-याचनामात्र है। हम रिश्वत देकर दण्डसे-मुक्ति नहीं चाहते। यह स्मरण रखना चाहिये कि किसी अपराधके लिये क्षमा मिल जाना भी दण्ड ही है, यह हो सकता है कि वह किये हुए

अपराधकी सबसे कम सजा हो । अपराध प्रमाणित हो जानेपर जैसे एक पाईका जुर्माना भी दण्ड ही है, उसी प्रकार उससे भी कम अर्थात् क्षमाका दण्ड भी दण्ड ही है। क्षमा देनेका अर्थ यह है कि अपराधीका अपराध प्रमाणित अवश्य हो गया परन्तु उसके किन्हीं विशेष गुणोंके कारण उसे क्षमा दे दी गयी—कम-से-कम सजा दी गयी। क्षमा और दण्ड दोनोंका फल एक ही है। दण्ड पानेसे मनुष्य सतर्क होकर भविष्यमें अपराध करनेसे बचनेकी चेष्टा करता है। उसे अपने कियेपर पछतावा होता है । क्षमा पानेपर भी ये सब बातें होती हैं, नहीं, इतना ही नहीं, क्षमा पानेवाले व्यक्तिको तो क्षमा मिलनेके पहले ही पछतावा हो जाता है और उसके बादतक बना रहता है। याद रखना चाहिये कि क्षमा उन्हींको मिलती है जो साधु-प्रकृतिके हैं, जिनमें सद्भावनाएँ होती हैं और जो मनोयोग-पूर्वक भविष्यमें पाप-कर्मसे अलग रहना चाहते हैं।

अब आलोचनाका दूसरा विषय लीजिये। कहते हैं चन्दन-भस्म, तिलक-त्रिपुण्ड्र, माला-छाप सब व्यर्थके आडम्बर किये जाते हैं। यदि पूजामें कोई महत्त्व मान भी लिया जाय तो ये सब तो निस्सार हैं ही। आलोचनाका यह विषय किसी हदतक थोड़े-बहुत ढंगका विषय है। ये कोई अनिवार्य आवश्यक वस्तुएँ नहीं हैं। पूजा इनके बिना भी हो सकती है और अच्छी तरह हो सकती है। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि इनका कोई महत्त्व ही नहीं है। पुलिसका एक सिपाही अथवा फौजका एक अफसर बिना वर्दीके भी अपना काम अच्छी तरह कर सकता है, फिर भी वह पहनी अवश्य जाती है। उसमें जो व्यय किया जाता है, उसके परिधानमें जो समय लगता है, उसकी हिफाजतमें जो चिन्ता उठानी पड़ती है उसपर कोई एतराज नहीं होता। सभा-सोसाइटियोंके अवसरपर खद्दर आदिकी विशेष वेश-भूषा—राष्ट्रीय पोशाकसे सज्जित होनेमें भी एतराज नहीं है, परन्तु पूजाकी विशेष वेश-भूषा आपत्ति-जनक है! क्यों? अगर पूजाके तिलक-माला, त्रिपुण्ड्र, छाप आदिमें जो समय और जो शक्ति व्यय की जाती है वह व्यर्थ अनावश्यक और हानिकारक है तो इनमें तो वह और भी अधिक हानिकारक होनी चाहिये क्योंकि इनमें समय, शक्तिकी मात्रा कहीं अधिक लगती है। परन्तु ऐसा नहीं माना जाता। इनकी महत्ता स्वीकार कर ली जाती है, फिर भी पूजाके समयकी विशेष वेश-भूषाकी महत्ता स्वीकार करनेमें एतराज है। इसी प्रकार हम प्रायः देखते हैं कि जब भक्तजनोंका कोई समुदाय गंगा-स्नानादिके लिये जाता हुआ रास्तेमें 'गंगामैयाकी जय' 'महादेवबाबाकी जय' 'हरे राम हरे कृष्ण' आदि पुण्य-घोष करता हुआ चलता है तब प्रायः यह आलोचना होती है कि ये लोग कितने मूर्ख हैं, रास्तेमें चिल्लाते हुए चलते हैं, मानों इसीमें सब पुण्य घुसा हुआ है। परन्तु वे ही समालोचक महात्मा गाँधीके स्वागत-जलूसके समय, दासबाबूके स्मृति-दिवसके समय, अथवा साइमन-कमीशनके बहिष्कारके समय 'महात्मा गाँधीकी जय' 'भारतमाताकी जय' 'वन्दे मातरम्' 'साइमन गो बैक' आदिके नारे लगानेमें अपना गौरव समझते हैं! क्यों? क्या दोनों अवस्थाएँ समान नहीं हैं? एक राष्ट्रीय महत्त्व रखती है, उसमें राष्ट्रीय जय-ध्वनि की जाती है, दूसरी धार्मिक महत्त्व रखती है, उसमें धार्मिक जयघोष किये जाते हैं। परन्तु विरोध होता है केवल धार्मिक जय-घोषोंका! क्या इसका एकमात्र कारण यह नहीं है कि हममें धार्मिक भावका या तो अभाव हो गया है या उसमें खेदजनक न्यूनता आ गयी है। धार्मिक उत्साह हममें रह ही नहीं गया। इसीलिये हम उसकी आलोचना करते हैं। अन्यथा दोनों अवस्थाएँ समान हैं और जैसे एकमें उन परिधानों और जयघोषोंकी महत्ता है वैसे ही दूसरेमें भी।

पूजाके सम्बन्धमें एक शिकायत और है। अब झाँझ, करताल, घण्टा, शङ्ख आदिके नादके साथ पूजा करनेपर लोगोंको एतराज होने लगा है। इससे पास-पड़ोसके आदमियोंको व्यर्थ ही तकलीफ होती है। उनके कानोंको कष्ट उठाना पड़ता है, निद्रामें व्याघात होता है और शान्ति भंग होती है। सुना है कहीं-कहींपर लोगोंने इसके लिये पुजारियोंपर मामले भी चलाये हैं। जो हो। विचारना यह है कि इस वाद्य-प्रणालीमें औचित्य कहाँतक है? आश्चर्य तो यह है कि लोग युद्ध-समयकी रणभेरियोंकी अवस्था समझ लेते हैं, जलूसोंके अवसरपर बजनेवाले बाजोंकी महत्ता भी उनकी समझमें आ जाती है, पर पूजाके समयके बाजोंकी महत्ता वे बेचारे नहीं समझ पाते। पहले तो यह समझ लेना चाहिये कि पूजामें शान्ति और वाद्य दोनों प्रणालियोंका प्रयोग होता है। या यों कहिये कि पूजाके दो विभाग हैं जिनमेंसे एकमें शान्तिके साथ देवोपासना की जाती है और दूसरेमें वाद्यके साथ। वाद्यका अभिप्राय केवल यह होता है कि उससे पूजा-

सम्बन्धी सात्त्विक उत्साह आता है और चित्त अन्यान्य स्थानोंसे हटकर पूजाकी ओर एकाग्र होता है। इस ऐकान्तिक मनोयोगके लिये ही पूजामें वाद्य-प्रणालीका विधान किया गया है। वाद्यका यह प्रभाव सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। परन्तु जो लोग उस प्रभावको देखना नहीं चाहते उनकी बात ही दूसरी है।

पूजाके सम्बन्धमें एक बात और भी प्रचार पा रही है। मुसलमानोंके यहाँ नमाज पढ़ते समय अनेक व्यक्तियोंका समूह एक साथ जमा हो जाता है और उनकी पूजा एक साथ ही होती है। इससे जाति-संगठन होता है और पारस्परिक सद्भाव फैलता है। हिन्दुओंमें एकान्त बैठकर पूजा करनेकी विधि है। इससे वे लाभ सम्भव नहीं होते। समालोचकोंकी दृष्टिसे पूजाका इस्लामी तरीका अधिक अच्छा है। इस आलोचना और इस सम्मतिसे यह तो स्पष्ट मालूम हो जाता है कि समालोचक महानुभाव पूजाका वास्तविक तात्पर्य ही नहीं समझे। वर्तमान राजनीतिक और साम्प्रदायिक वातावरणमें वे इस प्रकार सन गये हैं कि प्रत्येक बातमें उन्हींके स्वप्न देखा करते हैं। पूजा राजनीतिक प्रश्नोंके समाधानका साधन नहीं है। उससे राजनीतिक उद्देश्यके सिद्धिकी कल्पना अयोग्य है। पूजाका सम्बन्ध आध्यात्मिकता—धार्मिकतासे है और जातीय सङ्गठन आदिकी भावना राजनीतिसे सम्बन्ध रखती है। वंशीसे लाठीका काम नहीं लिया जा सकता। आलोचकोंकी यह दलील ही व्यर्थ है। धार्मिक और आध्यात्मिक दृष्टिसे एकान्तमें पूजा करनेके बराबर समूहमें पूजा करनेकी प्रणाली हो ही नहीं सकती। चित्तकी एकाग्रता, शान्ति, आत्मनिवेदनकी भावनाका उद्रेक, अपनी दीनताका प्रदर्शन, तन्मयता आदि जो अकेलेमें होती है वह समूहमें सम्भव ही नहीं। एक प्रेमी अपने प्रेमपात्रसे एकान्तमें ही मिलनेकी इच्छा क्यों किया करता है? क्या उसका केवल यह कारण नहीं है कि वह उस अवस्थामें अपनी तन्मयता, अपनी दीनता आदिका परिचय अधिक स्वतन्त्रता और अधिक अच्छाईके साथ दे सकता है? भक्ति प्रेमका ही एक परिष्कृत रूप है। इसलिये स्वभावतः अपने उद्देश्यकी सिद्धिके लिये वहाँ ही ऐकान्तिक पूजाका महत्त्व अधिक होना ही चाहिये।

इस प्रकार भिन्न-भिन्न तर्कों और युक्तियोंसे समालोचकगण पूजाकी आलोचना और टीका-टिप्पणी करते हैं। परन्तु प्रायः सभी एक प्रकारसे निस्सार-सी मालूम होती हैं। अधिकांशमें ये समालोचक प्रभावित हुए हैं वर्तमान राजनीतिक और धर्मविरोधी वातावरणसे। इसीलिये नाना प्रकारके तर्क और कुतर्क ढूँढ़कर उसकी आलोचना करने बैठ जाते हैं। पूजाका वास्तविक रूप क्या है, उसका उद्देश्य क्या है, उसका फल क्या होता है आदि बातोंपर सहानुभूतिपूर्वक विचार करनेकी उन्होंने कभी उदारता ही नहीं दिखायी। यदि शान्त और सरल चित्तसे वे इस विषयपर विचार करते या अब भी करेंगे तो निश्चय ही देखेंगे कि पूजा आत्मशुद्धि और आत्मप्रक्षालनका एक प्रभावशाली और सरल उपाय है। इसके द्वारा हमें अपने मनोभावोंको सांसारिक कलुषसे परिमार्जित करनेका शुभ अवसर प्राप्त होता है, आत्मा विकास पाती है, चरित्र उन्नत होता है और आत्मबल बढ़ता है। परमपिताका पुण्यप्रसार पानेकी यह योजना हममें उस सर्वशक्तिमान् जगन्नियन्ताकी वह अनन्त और अमोघशक्ति भरती है जो हमारी जीवन-यात्रामें साहस और सफलतापूर्वक अग्रसर करनेके लिये प्रतिपल अनुप्राणित और उत्साहित करती रहती है और समस्त विकारोंको अलग रख हमको सत्, चित्, आनन्दकी ओर अग्रसर करती रहती है।
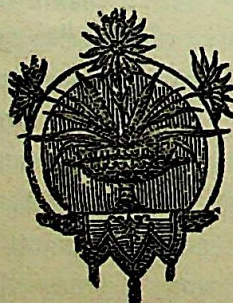
परमार्थ-पत्रावली

(श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

[गताङ्कसे आगे]

[१५]

१—'कल्याण' पृष्ठ ७५२ में देखकर आपने 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' मन्त्रका जप आरम्भ किया, दैनिक चार-पाँच हजारतक करने लग गये थे और अब दस हजार करते हैं सो अच्छी बात है। जहाँतक हो सके संख्या बढ़ानेकी कोशिश करनी चाहिये। आजतक पचीस लाख मन्त्र-जप आप कर चुके सो बहुत आनन्दकी बात है।

साथमें श्रीविष्णुभगवान्‌का ध्यान करनेकी कोशिश आप करते हैं, किन्तु ध्यान न लगकर विषयोंका ही चिन्तन होता है। विषयोंका चिन्तन न होकर भगवान्‌का ध्यान होनेका उपाय पूछा सो ठीक है। भगवान्‌के ध्यानको सर्वोत्तम समझकर निष्काम-भावसे विशेष तत्पर होकर करनेसे विषयोंका चिन्तन छूट सकता है। विषयोंमें दोष, दुःख एवं घृणा-दृष्टि करनेसे और वैराग्यवान् पुरुषोंका सङ्ग करनेसे भी विषयोंका चिन्तन छूट सकता है। उपर्युक्त अभ्यास करनेसे ही सब पापोंका एवं क्लेशोंका नाश होकर परमानन्द और परमशान्तिकी प्राप्ति हो सकती है। मुझे श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु न समझकर अपना एक साधारण मित्र समझना चाहिये।

२—भगवान्‌की प्राप्तिके लिये भजनका ठेका करनेवाला सच्चा भक्त इसलिये नहीं है कि वह भगवत्-प्रेम और भजनके रहस्यको नहीं समझता। जो समझता है उसे ठेका करनेकी क्या आवश्यकता है? भजन तो केवल भगवान्‌में अनन्य-प्रेम होनेके लिये ही करना चाहिये। अनन्य-प्रेम हो जानेपर भगवान् स्वयं ही मिले बिना नहीं रह सकते। इसीसे अनन्य-प्रेम भगवान्‌के मिलापसे भी बढ़कर है। इस रहस्यको समझनेवालेका भजन, साधन, श्रद्धा, प्रेम उत्तरोत्तर बढ़ता रहता है।

३—विषयोंकी अभिलाषा एवं मोह और अन्तःकरणकी अशुद्धिमें वृद्धिको, मन्त्र-जपका परिणाम समझना बहुत ही अनुचित एवं भूल है। उपर्युक्त दोष तो मनमें सदा ही रहते हैं। कभी छिपे हुए रहते हैं और कभी प्रकट होकर उग्र रूप धारण कर लेते हैं। यदि उस समय आप भजन न करते तो सम्भव है उनका प्रकोप और भी अधिक होता।

४—ईश्वरके भजन बिना जो समय गया उसके लिये पश्चात्ताप करना और व्यर्थ गया समझना तो उचित ही है। किन्तु उसके लिये प्राणत्याग करना उचित नहीं, ऐसी भावना भी नहीं होनी चाहिये। भविष्यमें व्यर्थ समय न बिताना ही सच्चा पश्चात्ताप है। समयको अमूल्य समझकर कटिबद्ध होकर भजन-ध्यान करनेसे मूलसहित विषयासक्तिका नाश हो जाता है।

५—भगवान्‌के भक्तोंमें प्रेम होनेका और सांसारिक लोगोंसे प्रेम हटानेका उपाय पूछा सो इसके लिये भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये।

६—पुस्तक पढ़ते समय मन दूसरी तरफ जाता हो तो पुस्तकमें लिखी हुई बातको समझनेमें मन लगाना चाहिये। जिस विषयकी पुस्तक हो यदि उसको समझनेकी लगन हो तो मन उसमें जरूर लग जाना चाहिये। काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि अवगुण, अन्तःकरण जैसे-जैसे शुद्ध होगा, वैसे-वैसे हटते जायँगे; इसके लिये भी भगवान्‌से प्रार्थना करते रहना चाहिये।

७—जपका महत्त्व नहीं समझनेके कारण और साधनमें शान्ति और आनन्दका अनुभव नहीं होनेके कारण एवं पापोंकी अधिकताके कारण भजन करनेमें आलस्य और भजनमें अरुचि उत्पन्न होती है, अतः अच्छे पुरुषोंका सङ्ग करके जपका महत्त्व समझना चाहिये। श्वासके साथ जप करनेका अभ्यास करनेसे चित्तको शान्ति मिल सकती है। जपका अभ्यास करते-करते अन्तःकरण शुद्ध होनेसे जपमें रुचि बढ़ सकती है। जबतक रुचि न हो तबतक विश्वास करके जप करते जाना चाहिये।

८—आसन लगाकर ईश्वरका ध्यान करनेकी चेष्टा करें, उस समय जप नहीं छोड़ना चाहिये। जप करते-करते ही ध्यान करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। जप होता रहनेसे मनमें दूसरी फुरना कम होगी। फिर भी अगर मन दूसरी जगह जाय तो बार-बार वहींसे हटाकर भगवान्में लगानेका अभ्यास करना चाहिये।

९—भगवान्के भजन-ध्यानके रहस्यको समझनेका उपाय पूछा सो रहस्य जाननेवाले सज्जन पुरुषोंका सङ्ग करना चाहिये और इस विषयकी पुस्तकोंको पढ़नेका अभ्यास करना चाहिये, फिर अभ्यास करते-करते अन्तःकरण शुद्ध होनेसे रहस्य समझमें आ सकता है।

१०—कर्मोंका अनुष्ठान करते समय भगवान्को याद रखनेका उपाय पूछा सो हरेक कार्य करते समय भगवान्को अपने साथ समझकर उनकी आज्ञाका पालन करनेके लिये कर्म करनेका अभ्यास करनेसे ऐसा हो सकता है। ऐसा अभ्यास करना बहुत ही अच्छा है। अभ्यास करते-करते भगवान्की कृपासे ऐसा स्वभाव बन सकता है कि फिर अनायास भगवान्का स्मरण रह सके।

११—मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाको कलङ्कके समान समझनेका उपाय पूछा सो इनसे होनेवाली हानिका विचार करनेसे, भगवान्के भजन-साधनमें इनको बाधक समझनेसे और बार-बार इस तरहका विचार रखनेसे ऐसा हो सकता है।

१२—जो बात प्रकाशित की जाती है, उसका नाश हो जाता है। इस तत्त्वको समझ लेनेसे अच्छे कामोंको प्रकाशित करनेकी प्रवृत्ति हट सकती है और बुरे कामोंको प्रकट करनेकी इच्छा हो सकती है।

१३—संसारी नाच-गानमें प्रेम होनेके कारण उनमें नींद नहीं आती परन्तु उससे स्वास्थ्यमें बहुत हानि होती है और भजन-सत्सङ्गमें प्रेम होनेपर उनमें भी नींद नहीं सताती और स्वास्थ्यमें हानि भी नहीं होती। भगवान्के प्रेमी पुरुषोंका सङ्ग करनेसे, अन्तःकरण शुद्ध होनेसे और भगवान्की शरण लेकर भजनका अभ्यास करनेसे भगवान्में प्रेम हो सकता है।

१४—अपना बिगाड़ करनेवालेपर भी क्रोध नहीं करना चाहिये। मनको समझाना चाहिये कि बुरा या बिगाड़ दूसरेके करनेसे नहीं होता। यह तो प्रारब्धसे होता है, फिर किसीका क्या दोष है? भगवान् सब जगह हैं, फिर मैं क्रोध किसपर करूँ? अपना अहित करनेवालेसे बदला लेनेकी इच्छासे उसका बुरा करनेकी चेष्टामें अपना ही नुकसान होता है, उसका बुरा करना अपने हाथकी बात भी नहीं है। मनमें बुरी भावना करनेसे अन्तःकरण मैला होता है, इसलिये ऐसा नहीं करना चाहिये।

१५—जुआ खेलना बहुत बुरा है; इससे भजन-में बाधा पड़ती है, पाप बढ़ता है, इज्जत चली जाती है, कोई विश्वास नहीं करता, भगवान् भी नाराज होते हैं। जुआ खेलकर नल और युधिष्ठिर-जैसे बड़े-बड़े राजालोगोंको भी पश्चात्ताप करना पड़ा है। अतः अपने

मनमें दृढ़ नियम करना चाहिये कि जुआ कभी भूल-कर भी नहीं खेलूँगा ।

१६—सत्य बोलनेका नियम एक दफे टूट गया तो फिर वैसा ही नियम लेना चाहिये और भगवान्से उसको सुरक्षित रखनेके लिये प्रार्थना करनी चाहिये। मनमें ऐसा दृढ़ विश्वास करना चाहिये कि भगवान्की कृपासे अब मैं इस नियमका ठीक-ठीक पालन कर सकूँगा ।

१७—जुएमें जीतकर उस धनको धर्मके काममें लगानेकी इच्छा करना वैसा ही है जैसे पहले शरीर-में कीचड़ लगाना और फिर उसको धो डालनेकी इच्छा करना । ऐसे धनसे कभी धर्म नहीं हुआ करता, वह तो पापको ही बढ़ानेवाला होता है ।

१८—समयका विभाग पूछा सो दिन-रात चौबीस घण्टेमें रात्रिमें छः घण्टे सोना चाहिये । सवेरे और सन्ध्या शौच, स्नान, भोजनादि शरीर-निर्वाहकी क्रियामें छः घण्टे लगाने चाहिये । जीविका चलानेके लिये द्रव्योपार्जनमें छः घण्टे लगाने चाहिये और एकान्त भजन-ध्यानमें छः घण्टे–ऐसा करना ठीक है। दूसरे काम करते समय भी भजन-ध्यान करनेकी कोशिश रहनी चाहिये । सात्त्विक पदार्थ खानेका अभ्यास करना चाहिये और राजस, तामस पदार्थोंका त्याग करना चाहिये । इसका विस्तार शास्त्रोंमें लिखा है ।

१९–ईश्वरसे प्रार्थना करनेसे भगवान् स्वयं ही सद्गुरुकी प्राप्ति करा सकते हैं। यही विश्वास करके प्रार्थना करते रहना चाहिये ।

२०–सोलह नामवाले मन्त्रके साढ़े तीन करोड़ मन्त्रका जप करनेसे भगवान् निःसन्देह मिल जाते हैं–ऐसा शास्त्रोंमें लिखा है और विश्वासपूर्वक करनेसे ऐसा होना सम्भव भी है, पर मैंने करके नहीं देखा है ।

२१–माता-पिताके आज्ञाकी बाबत पूछा सो और सब कामोंमें तो माता-पिताका हुक्म पूरा-पूरा मानना चाहिये; परन्तु वे यदि भजन-ध्यानके लिये मना करते हों तो यह बात नहीं माननी चाहिये । क्योंकि यह माननेमें उनका भी नुकसान है । उनको शान्तिपूर्वक समझाना चाहिये, सेवा करके प्रसन्न करना चाहिये । उनका सामना नहीं करना चाहिये और कड़ा जवाब नहीं देना चाहिये । उनका भी भजन-ध्यानमें प्रेम हो, ऐसी कोशिश करनी चाहिये । स्वयं जो भजन-ध्यान करे वह उनसे छिपाकर गुप्त-भावसे करनेका अभ्यास डालना चाहिये, परन्तु भजन-ध्यान नहीं छोड़ना चाहिये । यदि वे इसके लिये गाली दें या शाप दें तो उसे शान्तिसे सुन लेना चाहिये । उससे कुछ भी हानि नहीं हो सकती। इसमें प्रह्लादका उदाहरण याद कर लेना चाहिये । परन्तु खयाल रहे कहीं अभिमानमें आकर उनका अपमान न कर बैठें । माता-पिताका अपमान करना और उनको कड़ी जबान कहना बहुत बुरा है। बहुत संकट पड़नेपर भी भजन-ध्यान नहीं छोड़ना चाहिये । यही तो परीक्षाका मौका है, अगर इसमें फेल हो गये तो फिर क्या है ?

२२–शास्त्र-ग्रन्थ देखते समय माताके पूछनेपर झूठ नहीं बोलना चाहिये, बल्कि चुप रह सकते हैं या किसी दूसरे समय पुस्तक देख सकते हैं। झूठ बोलनेकी कोई जरूरत नहीं । झूठ बोलनेसे पाप जरूर होता है और कोई फायदा भी नहीं होता । बात तो सच्ची ही कहनी चाहिये । उसके लिये गाली सुननी पड़े या नुकसान सहना पड़े तो कुछ हर्ज नहीं । आपने मांस-भक्षण छोड़ दिया, यह बहुत ही अच्छा काम किया । इस नियमका दृढतापूर्वक पालन करना चाहिये ।

२३—कभी भूलकर या दूसरेकी आज्ञासे भी मांसके कार्यमें सहायता किसी प्रकारसे भी नहीं देनेका ही खयाल रखना चाहिये ।

२४—आपके मनमें जो शंका उठे आप खुशीसे पूछ सकते हैं, परन्तु अधिक विस्तार नहीं करना चाहिये क्योंकि मुझे समय बहुत कम मिलता है । इसलिये, उत्तर देनेमें विलम्ब हो सकता है । जवाब बहुत जल्दीमें लिखा गया है ।

[१६]

गीता-शास्त्र बड़ा ही गहन है, बड़े रहस्यका विषय है । इसका अभ्यास करते-करते नये-नये भाव पैदा होते रहते हैं, इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं । ऐसा होना इस ग्रन्थके अनुरूप ही है । आपके प्रश्नोंका उत्तर क्रमसे लिखा जाता है ।

१—भगवदर्पण-बुद्धिमें मोहयुक्त कर्तापनका अभिमान नहीं रहता, अभिमानशून्य निर्दोष कर्त्तापनमात्र रहता है; वह भी साधन करते-करते समाप्त हो जाता है । 'अहंकारविमूढात्मा' में जो कर्तापनका अभिमान बताया गया है यह मोहयुक्त है और वहाँ विषय भी अज्ञानका ही है । अर्पण अपनी वस्तु की जाती है । यही क्यों, भूलसे अपनी मानी हुई दूसरेकी वस्तुको, जिसकी है उसे दे देना क्या अर्पण नहीं है ? क्या भरतजीकी भाँति स्वामीकी आज्ञासे स्वीकार किया हुआ राज्य समयपर स्वामीके चरणोंमें सौंप देना समर्पण नहीं है ? जिस प्रकार भरतजी समस्त राज-कार्यका भार श्रीरामपादुकाके सहारे चलाते थे, उसमें अपनी सामर्थ्य कुछ भी नहीं समझते थे, केवल अपनेको निमित्तमात्र ही मानते थे, उसी प्रकार समस्त कार्य करनेवालेका कर्तापन भी क्या दोषी हो सकता है ? कभी नहीं । जो साधक सब वस्तुओंको ईश्वरकी ही समझता है और समस्त संसारका सञ्चालन उसीकी शक्तिसे होता हुआ देखता है उसके मनमें अर्पण करनेका कुछ अभिमान थोड़े ही होता है, वह तो अपनेको केवल निमित्तमात्र समझता है ।

२—'वासुदेवः सर्वम्' माननेवाले महात्मा पहले असंख्य हो चुके हैं । उनके नाम कहाँतक लिखे जायँ । सनकादिको जय-विजयपर क्रोधका भाव हुआ—यह बात कहनेसे शास्त्रकारका क्या प्रयोजन है, इसका पता नहीं है । वास्तवमें महात्माओंको क्रोध हो नहीं सकता—कथा ऐसी बहुत मिल जाती है, उनमें कुछ रहस्य होगा । अपनेको तो सिद्धान्त यही समझ लेना चाहिये कि वास्तवमें महात्मामें काम-क्रोधादि दोष नहीं रह सकते । विश्वामित्र और अगस्त्य आदिका राक्षस-वधके लिये चेष्टा करना जगत्-हितकी दृष्टिसे था, अतः उसमें कुछ शंकाकी बात नहीं है । वैसे तो खुद वासुदेवने ही बहुतोंका वध किया-कराया है, फिर सबको वासुदेव समझनेवाले वैसी चेष्टा करें, इसमें क्या अनुचित है ? सब महापुरुषोंका स्वभाव एक-सा नहीं होता । सब अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार ही जगत्-हितकी चेष्टा किया करते हैं । आपने एकनाथजी, गौराङ्ग-महाप्रभु और रामदासजीका उदाहरण दिया सो यह भी बहुत अच्छा है, पर जगत्-हितके लिये न्याययुक्त राक्षस-वधकी चेष्टा भी बुरी नहीं है । उसमें स्वार्थकी मात्रा नहीं होनी चाहिये । क्या माता-पिता अपने बालकको और डाक्टर रोगीको उसके और जगत्के हितके लिये ताड़ना नहीं दिया करते ? और क्या उनका वैसा करना दया नहीं है ?

३—'प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति' या 'प्रकृतिं यान्ति भूतानि' इत्यादि वाक्योंमें जो 'प्रकृति' शब्द आया है उसका अर्थ भलीभाँति समझना चाहिये । अगर राग-द्वेष आदि या काम-क्रोधादि अवगुण भी उस प्रकृतिके साथ ही होते तो उनको छोड़नेके लिये या

उनका नाश करनेके लिये भगवान् कैसे कह सकते ? सुतरां यह स्पष्ट हो जाता है कि राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोहसे युक्त जो स्वभाव है, उसका नाम यहाँ 'प्रकृति' नहीं है; किन्तु प्रारब्धानुसार उसको जैसे शरीर, इन्द्रिय और मन आदि मिले हैं, उनकी जैसी शक्ति और आदत है उसके अनुसार उनका क्रियामें प्रवृत्त होना अनिवार्य है। अतः उनकी क्रियाको रोकनेकी व्यर्थ चेष्टा न करके उन क्रियाओंमें आनेवाले दोषोंको हटानेकी चेष्टा करनी चाहिये। यही भगवान्‌का अभिप्राय है। अतः काम-क्रोधको जीतनेकी, पापोंका त्याग करनेकी चेष्टा अवश्य करनी चाहिये। ब्रह्मचारी अवश्य बनना चाहिये। प्रकृतिसे डरनेकी इसमें कुछ भी बात नहीं है।

४—मेरी समझमें तो यही मानना उचित है कि 'मामनुस्मर युध्य च,' इस उपदेशको अर्जुन पूर्णरूपसे कार्यमें ला सके थे। स्मरण रहते हुए जो उनको शोक और क्रोध होनेका प्रसङ्ग आता है उसके विषयमें ऐसा समझना चाहिये कि वह लोकसंग्रहके लिये स्वाँगकी तौरपर था, वास्तवमें नहीं। आजकलके लोग जो कार्य करते हुए स्मरण रखनेका भाव व्यक्त किया करते हैं उनकी कैसी स्थिति है—इसका हाल तो वे ही जान सकते हैं, मैं इस विषयमें क्या लिख सकता हूँ। हाँ, यह मैं अवश्य कह सकता हूँ कि ऐसा साधन हो सकता है, इसमें कोई शङ्का नहीं। क्योंकि यदि इस प्रकार कार्य करते हुए स्मरण हो ही नहीं सकता होता तो भगवान् ऐसा उपदेश ही कैसे देते ? यह बात अवश्य है कि सबकी प्रकृति एक-सी नहीं होती, अतः हर एक साधक निरन्तर स्मरण रखते हुए कार्य नहीं कर सकता।

मैं और भगवान् दोनों नहीं रह सकते। प्रेमकी गली बहुत छोटी है, यह तो ठीक है, 'परन्तु मैं नहीं रहकर भी शरीर आदिसे कर्म हो सकते हैं,' इसे गीता स्वीकार करती है।

भगवान्‌के स्मरणमें रोमाञ्च अधिक साधकोंको हुआ करता है; परन्तु अश्रुपात सबके नहीं होता, इसमें स्वभावका भेद है। सभी साधकोंके शरीरमें ऊपरी चिह्न होवें ही, यह कोई खास नियम नहीं है। आपके लिये आँसुओंका रोकना असाध्य हो जाता है, यह आपके स्वभावकी विशेषता है। बाहरी चिह्नोंद्वारा यदि भगवत्-प्रेमका प्रकट हो जाना बुरा मालूम होता हो तो ऐसा न होनेके लिये भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये। प्रेमको गुप्त रखना तो अच्छा ही है। चेष्टा अवश्य करनी चाहिये; इसपर भी प्रकट हो जाय तो भगवान्‌की मर्जी, उसका उपाय भी क्या और चिन्ता भी क्यों ?

५—ज्ञानीको मायाकृत विकार होना सम्भव नहीं है। गीतोपदेश सुननेके बाद भी जो अर्जुनमें मोहादि विकारोंके होनेकी कथा आती है, इसमें यही समझना ठीक मालूम होता है कि वह सब बातें लीलामात्र स्वाँगकी तरह थीं। ब्राह्मणवाले प्रसङ्गमें सम्भवतः उनको यह दिखाना था कि अभिमान—घमण्ड करना बहुत बुरा है, भगवान्‌के सामने अर्जुन-जैसोंका भी अभिमान नष्ट हो गया तो फिर दूसरोंकी तो बात ही क्या है ? बाहरी चरित्रोंसे यह पता लगाना कि अमुक व्यक्तिको ज्ञान हुआ था या नहीं, असम्भव है। गीताका उपदेश सुननेके बाद भी अर्जुनको ज्ञान नहीं हुआ था, ऐसा मानना मेरी समझमें ठीक नहीं है।

६—श्रीव्यासजी महाराज तो स्वयं आनन्दकी मूर्ति ही थे, उनको क्या अशान्ति हो सकती है ? फिर गीता-जैसे ज्ञानमय ग्रन्थकी रचना करनेके बादका तो प्रश्न ही क्या ? रही भागवतकी बात, सो

श्रीमद्भागवत भक्तिप्रधान ग्रन्थ है ही, अपने विषयमें वह भी स्तुतिके योग्य ही है। ग्रन्थके माहात्म्यमें ऐसी बातोंका रूपक ग्रन्थका महत्त्व समझानेके लिये लिखा जाया करता है। कथाका अभिप्राय लेना चाहिये। केवल अक्षरार्थको लेकर आलोचना करनेसे तर्ककी सीमा नहीं है। यदि आप पुराणोंमें गीतामाहात्म्यको पढ़ना आरम्भ करें तो उसकी तुलनामें भागवतका माहात्म्य अधिक नहीं रहेगा।

७—गीता अ० ६ श्लोक ९ से १४ तक एवं २४ से २६ तकमें बताया हुआ साधन संसारी झंझट छोड़कर लगातार कई दिनोंतक करना अयुक्ति-संगत या अशास्त्रसम्भव तो नहीं है परन्तु साधकसे ऐसा होना सहज बात नहीं है। यदि किसीका स्वभाव ही ऐसा बन जाय और किसी प्रकारके विघ्न बिना ही ऐसा साधन कोई कर सके तो बहुत आनन्दकी बात है; परन्तु कोई हठसे ऐसा करनेकी चेष्टा करे तो हो नहीं सकता, क्योंकि कभी नींद सतावेगी, कभी शरीर अकड़ने लगेगा और कभी मन चक्कर लगाना आरम्भ कर देगा और यदि ऐसा हुआ तो फिर वह साधन कहाँ रहा ? भगवान्‌ने जो युक्ताहारविहारकी बात कही है, वह बहुत ही ठीक है। साधारण नियम तो ऐसा ही होना चाहिये; फिर यदि किसीका स्वभाव ऐसा बन जाय कि दस-पन्द्रह दिनोंतक लगातार एक आसनसे बैठ सके, बिना भोजन और जलपानके रह सके, निद्राकी आवश्यकता ही न हो तो उसके लिये वही युक्त है, क्योंकि युक्त शब्दका अर्थ भी तो कम व्यापक नहीं है; जिसकी प्रकृतिके जो उपयुक्त हो, उसके लिये वही युक्त हो जायगा।

८—नाम-जापकोंसे भी जो मिथ्या-भाषणादि दोष होते हुए देखनेमें आते हैं, इसका कारण भगवान् और उनके नामका प्रभाव न जानना और विश्वासका न होना तो मुख्य ही है परन्तु सकाम भाव भी उन्नतिमें रुकावट डालनेवाला ही है। विश्वासकी जाँचके लिये जान-बूझकर प्राणोंको सङ्कटमें डालनेकी आवश्यकता नहीं। विश्वासकी जाँच तो मनुष्य पद-पदपर कर सकता है, जिस मनुष्यको भगवान्‌के नाम-स्मरणके साथ-साथ यह दृढ़ विश्वास होगा कि भगवान् सर्वज्ञ हैं, सर्वशक्तिमान् हैं, सर्वव्यापी हैं, परम न्यायकारी हैं, वह कोई भी ऐसा कार्य कैसे कर सकता है जो भगवान्‌की आज्ञाके विरुद्ध हो ?

९—मेरी समझमें पवित्र तीर्थ-स्थानोंमें जाकर वहाँ रहकर अपना समय भगवान्‌के भजन-स्मरणमें लगाना तो बहुत ही उत्तम है, परन्तु हठसे 'अनशन-व्रत' आदि करनेमें विशेष लाभ नहीं दीखता, क्योंकि भगवान् हठ नहीं चाहते, सच्चा प्रेम और विश्वास चाहते हैं। भगवान्‌के प्रेमकी भिक्षा तो कहीं भी करनेमें हानि नहीं है, फिर तीर्थोंमें तो जाना ही इसीलिये होना चाहिये। वृन्दावन-सेवाकुञ्जके विषयमें मेरा कोई अनुभव नहीं है; मैं इसका जानकार ही नहीं, तब अपनी धारणा क्या बतलाऊँ ? यदि किसीका सच्चा विश्वास हो तो ऐसा होना मेरी समझमें असम्भव नहीं है।

१०—तीव्र साधनकी महिमा तो सभी शास्त्र कहते हैं। जहाँतक हो सके साधकको अपना साधन तीव्रसे भी तीव्र बनाना चाहिये। पर तीव्र साधनका अर्थ क्या है, इसे भलीभाँति समझनेकी आवश्यकता है। बिल्वमङ्गलकी भाँति आँखोंको फोड़ लेना या किसी प्रकारका निमित्त बनाकर प्राणोंका त्याग कर देना तीव्र साधनका उदाहरण नहीं है। तीव्र साधनमें उदाहरण लेना चाहिये भक्त प्रह्लादका या भक्त

ध्रुवका । भगवत्-शरणागतिमें प्राणोंकी ममताको तो स्थान ही नहीं है, फिर भक्तको भय हो ही कैसे सकता है ? प्रह्लादमें आपको सब-के-सब उदाहरण एक ही जगह मिल जायँगे । जान-बूझकर आत्महत्या करनेका प्रयत्न करना निर्भयता या प्राणोंके मोहका अभाव नहीं है । इसकी परीक्षा तो अपने आप न्याययुक्त प्राप्त हुए प्राणसङ्कटके समय ही हो सकती है । गीता-रहस्यकारने आत्मज्ञानके लिये जल्दी करनेके लिये किस उद्देश्यसे कहा है, यह तो मुझे मालूम नहीं; पर मेरी समझमें तो मनुष्यको अपना साधन तीव्र-से-तीव्र बनाना चाहिये । इसमें शिथिलता करना किसी तरह भी लाभप्रद नहीं होता । हाँ, यह बात अवश्य है कि साधनका फल मिलनेमें देर होती देखकर ऊबना कभी नहीं चाहिये । फलके लिये जल्दबाजी करनेवाला साधक भूल कर सकता है । प्रश्न ७ में बताया हुआ ध्यानसहित निरन्तर जप तीव्र साधन कहा जा सकता है, इसमें कोई विरोध नहीं है ।

आपने प्रश्न ७ और ९ का उत्तर शीघ्र लिखनेके लिये अनुरोध किया था, पर स्वर्गाश्रममें समय कम मिलनेके कारण वैसा नहीं हो सका ।
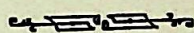
भक्त-गाथा

रसिक भक्त चतुर्भुजदासजी

(लेखक—श्रीगुरांदित्ताजी खन्ना)

कुम्भनदासजी श्रीनाथजीके साथ खेलते थे । एक दिन कुम्भनदासजीको श्रीगोवर्धननाथजीने चार भुजा धारण करके दर्शन दिया । उसी दिन कुम्भन-दासजीके घरमें पुत्र पैदा हो गया, इसलिये उन्होंने उसका नाम चतुर्भुजदास रक्खा । यह बात कुम्भन-दासजीकी वार्तामें लिखी है ।

जब चतुर्भुजदास ग्यारह दिनके हुए तो कुम्भनदास-जी उन्हें श्रीगोसाईंजीके पास ले गये और नाम-स्मरण करवाया । जब चतुर्भुजदास ४१ दिनके हुए तो उन्हें श्रीगोसाईंजीसे निवेदन करवाया । इस दिनसे श्रीनाथजीने चतुर्भुजदासमें इतनी सामर्थ्य दे दी कि जब इच्छा हो तो मुग्ध बालक बन जायँ और जब इच्छा हो तो बोलने-चालने एवं सब अलौकिक बातें करने लग जायँ । जब कुम्भनदासजी एकान्तमें बैठते तो चतुर्भुजदास उनसे भगवद्वार्ता करते, पूछते और पद गाने लगते । जब कोई लौकिक पुरुष आ जाता तो वह मुग्ध बालक बन जाते । जब श्रीनाथजी इच्छा करते, चतुर्भुजदास-को खेलनेके लिये साथ ले जाते । चतुर्भुजदास, जिस-जिस लीलाके दर्शन करते, उस-उसके पद गाते ।

ऐसे चतुर्भुजदासजी भगवत्-कृपापात्र थे ।

(२)

एक दिन श्रीनाथजी एक व्रजवासीके घर माखन-चोर बनकर पधारे । साथमें चतुर्भुजदासको भी लेते गये । वहाँ एक व्रजवासीकी कन्याने चतुर्भुजदासजीको तो देख लिया, पर श्रीनाथजी भाग गये । व्रजवासीकी कन्याने चतुर्भुजदासजीको पकड़ लिया और पीटा । चतुर्भुजदासजी श्रीनाथजीके पास गये और कहने लगे—'महाराज ! मुझे तो खूब पिटवाया ।' श्री-नाथजी बोले—'तुझमें सामर्थ्य अच्छी न थी । तू क्यों न भाग आया ।'

ऐसे चतुर्भुजदासजी, जो श्रीनाथजीकी अन्तरङ्ग लीलामें भाग लेते थे, उनकी वार्ता क्या कहें ?

(३)

जिस दिनसे चतुर्भुजदासजीको प्रथम लीलाका अनुभव हुआ, उसी दिनसे सर्वव्यापी वैकुण्ठ-सम्बन्धी लीला सर्वत्र दीखने लगी। यह सामर्थ्य श्रीगोवर्धन-नाथजीने कृपा करके उनको दे रक्खी थी। जब कुम्भनदासजीको श्रीनाथजीके पोढवेके दर्शन हुए तो वह यह कीर्तन गाने लगे—

वे देखो बरत झरोखन दीपक
हरि पोढे ऊँची चित्रसारी।

सुनते ही चतुर्भुजदासजी बोले—

सुंदर बदन निहारन कारन
बहुत जतन राखे कर प्यारी।

कुम्भनदासजीने निश्चय किया कि इन्हें श्रीगोसाईं-जीकी कृपासे सम्पूर्ण अनुभव हो गया है, इससे उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने श्रीगोसाईंजीकी बहुत कृपा जानी।

इस दिनसे चतुर्भुजदास कहीं जायँ, अथवा न जायँ; जल्दी आयें अथवा देरसे आयें, कुम्भनदासजी उन्हें कुछ न कहते। जान लेते कि श्रीनाथजीके संग कहीं खेलते होंगे।

चतुर्भुजदासजी ऐसे भगवत्-कृपापात्र भगवदीय थे।

(४)

एक दिन चतुर्भुजदासजीने श्रीगोवर्धननाथजीके शृङ्गारके दर्शन किये। उस समय श्रीगोसाईंजी आरसी दिखा रहे थे। चतुर्भुजदासजीने निम्नाङ्कित पद गाया—

सुभग सिँगार निरख मोहनको,
ले दरपन कर पियहि दिखावे।
आपन नेक निहारिये बलि जाऊँ,
आजकी छबि कछु कहत न आवे॥

तदनन्तर श्रीगोसाईंजी गोविन्दकुण्डपर पधारे। वहाँ एक वैष्णवने पूछा—'महाराज! आज चतुर्भुज-दासने जो यह गाया कि 'आजकी छवि कछु कहत न आवे'—यह क्या बात है? आप तो नित्य ही शृङ्गार करते हैं और आरसी दिखाते हैं। आजके पदका रहस्य मैं बिल्कुल नहीं समझ सका।

श्रीगोसाईंजी बोले—'चतुर्भुजदासने जो दूसरा पद गाया था, वह यह था—

माई री आज और काल और छिन-छिन प्रति और-और···

पद सुनकर वैष्णवने निवेदन किया—'महाराज! भगवल्लीला तो नित्य है और सर्वत्र है, अतः चतुर्भुज-दासने 'और-और' क्यों कहा? श्रीगोसाईंजीने आज्ञा की—'भगवत्-लीलामें यही विलक्षणता है कि वह नित्य है और क्षण-क्षणमें नयी-से-नयी दिखायी देती है। लीलास्थ जीवोंको और लीलाके दर्शन करनेवालोंको वह क्षण-क्षणमें नयी लगती है एवं नयी रुचि पैदा करती है।

गोपालदासजीने वल्लभाख्यानके चौथे 'कड़वा' की पाँचवीं टुकमें गाया है—

एक रसना केम कहूँ गुन प्रगट विविध विहार।
नित्य लीला नित्य नौतम, श्रुति न पामें पार॥

ऐसी भगवल्लीला है, सुनकर वैष्णव बहुत प्रसन्न हुआ।

चतुर्भुजदास ऐसे कृपापात्र थे, उन्हें नित्यकी लीलाका सारा अनुभव होता था।

(५)

एक दिन श्रीगोसाईंजी श्रीगोकुलजीमें विराज रहे थे और श्रीगिरिधरजी आदि सब बालक श्रीजीद्वारमें विराज रहे थे। उस समय वहाँ रासधारी आ गये। तब श्रीगोकुलनाथजीने श्रीगिरिधरजीसे आज्ञा लेकर पारसोली-

में रास शुरू करवा दी, रासमें खूब गायन हुआ। फिर श्रीगोकुलनाथजीने चतुर्भुजदासजीको आज्ञा की कि 'आप भी कुछ गाइये।' चतुर्भुजदासजी बोले— 'हमारा गायन सुननेवाले श्रीनाथजी पधारे नहीं हैं, अतः हम किस प्रकार गावें।' श्रीगोकुलनाथजी बोले— 'अभी पधारते हैं।' श्रीगोकुलनाथजीकी इस बातको सत्य करनेके लिये श्रीनाथजी जागकर और श्रीगिरिधरजीको जगाकर पारसोली पधारे। श्रीनाथजी और श्रीगिरिधरजीके दर्शन केवल श्रीचतुर्भुजदास और श्रीगोकुलनाथजीको हुए, अन्य किसीको नहीं। श्रीनाथजीके दर्शन करके चतुर्भुजदासजी गाने लगे। जब बहुत ही अधिक सुख हुआ, रात बहुत बीत गयी, उस समय चतुर्भुजदासजीने गाया—

पहला पद—

अदभुत नट-भेस धरे जमुनातट स्याम सुंदर
गुननिधान गिरिवरधर रास-रंग-राचे।

दूसरा पद—

प्यारी ग्रीवा भुज मेली, नृत्यत प्रिया सुजान

ऐसे-ऐसे चतुर्भुजदासने बहुत पद गाये, फिर रास हुआ और उसमें खूब आनन्द आया।

श्रीगिरिधरजीने श्रीनाथजीको रात्रिमें जागते रहनेके कारण प्रातःकाल न जगाया। इतनेमें श्रीगोसाईंजी श्रीगोकुलजीसे आ गये और पूछने लगे—'कौन समय है?' श्रीगिरिधरजी बोले—'श्रीनाथजी जागे नहीं। रात्रि-समय रासमें जागते रहे थे।' श्रीगोसाईंजी बोले— 'श्रीनाथजी तो सदा ही रास करते हैं और सदा ही जागते रहते हैं। शङ्खनाद करवाइये।' श्रीगिरिधरजीने शङ्खनाद करवाया। तब श्रीनाथजी जाग उठे। फिर श्रीगोसाईंजीने श्रीगोकुलनाथजीको आज्ञा की कि 'इस प्रकार आग्रह करके श्रीनाथजीको नहीं पधरवाना चाहिये। वह तो सदा अपनी इच्छासे रास करते हैं। विनय करके पधरवाना ठीक नहीं है।'

चतुर्भुजदास, ऐसे कृपापात्र थे कि श्रीनाथजीके सिवा और किसीके आगे गाते ही न थे।

(६)

एक दिन श्रीगोसाईंजीने चतुर्भुजदासजीको आज्ञा की कि 'अप्सराकुण्डपर जाकर रामदास भीतरियाको बुला लाओ और फूल लेते आओ। चतुर्भुजदासजीने रामदास भीतरियाको भेज दिया और आप फूल चुनने लग गये। फूल चुनकर जब आ रहे थे तो उसी समय श्रीगोवर्धन-पर्वतकी कन्दरासे श्रीनाथजी स्वामिनीजीसहित पधारे और स्वामिनीजीने मनमें यह विचार किया कि यह लीला कोई नहीं जानता। इतनेमें चतुर्भुजदासजीने उनका दर्शन कर लिया और यह पद गाया—

पहला पद—

गोवरधन गिरि सघन कंदरा
रैन निवास कियो पिय प्यारी।

दूसरा पद—

रजनी राज कियो निकुंज नगरकी रानी।

पद सुनकर श्रीस्वामिनीजी बहुत प्रसन्न हुईं। चतुर्भुजदासजी फूल लेकर श्रीगोसाईंजीके पास गये। चतुर्भुजदासजी ऐसे कृपापात्र थे कि श्रीनाथजी तथा श्रीस्वामिनीजीके मनकी बात भी जान लेते थे।

(७)

एक बार श्रीगोसाईंजी परदेस पधारे हुए थे। तब श्रीगिरिधरजीकी यह इच्छा हुई कि यदि श्रीनाथजीको अपने घर मथुरामें पधरावें तो ठीक है। इससे उन्होंने श्रीनाथजीकी आज्ञा लेकर फाल्गुन कृष्ण ६ को

शयनके बाद श्रीनाथजीको मथुरामें पधरवाया, और फाल्गुन कृष्ण ७ को बड़ा भारी उत्सव किया, घरमें जो कुछ भी था सब अर्पण कर दिया, परन्तु श्रीकमला बेटीने एक नथ घरमें रख ली। वह बेटी बच्ची थी, इससे कुछ समझती न थी। श्रीनाथजीने वह नथ भी माँग ली, कारण कि श्रीगिरिधरजीने सर्वस्व अर्पण करनेकी प्रतिज्ञा की थी। उस प्रतिज्ञाको सत्य करनेके लिये ही श्रीनाथजीने ऐसा किया। चतुर्भुजदासजी नित्य श्रीगिरिराजपर बैठकर विरह और हिल्गके पद गाते। श्रीनाथजी सदा सन्ध्या-समय गौवोंके साथ पधारते और दर्शन देते। वैशाख शुदी १३ की सन्ध्याको उन्होंने यह पद गाया—

श्रीगोवरधनवासी साँवरे लाल ! तुम विनु रह्यो न जाय हो।

पदकी अन्तिम तुक श्रीनाथजीने पधारते हुए सुनी। करुणासे व्याकुल हो गये और मनमें कहने लगे—'सदा यहाँ पधारेंगे।' भक्तका दुःख देखकर श्रीनाथजीसे रहा न गया।

जब रात्रि एक पहर रही तो श्रीनाथजीने वैशाख शुक्ल १४ के दिन श्रीगिरिधरजीको आज्ञा की कि 'आज गोवर्धन-पर्वतपर राजभोग आरोगेंगे'। जब श्रीगिरिधरजीने मंगला करवाकर श्रीनाथजीको पधरवाया तो पहले मनुष्य भेजकर मन्दिर साफ करवाया, इससे श्रीनाथजीको देर हो गयी। फलतः राजभोग और शयन-भोग एक ही समयमें करने पड़े। उस दिनसे आज-तक नरसिंह-चतुर्दशीके दिन श्रीनाथजी दो समय राजभोग आरोगते हैं। एक नित्यके समय और दूसरा शयन-भोगके समय।

चतुर्भुजदासजी श्रीनाथजीके ऐसे कृपापात्र थे कि उनके बिना श्रीनाथजी रह नहीं सकते थे।

(८)

एक दिन श्रीचतुर्भुजदासजी श्रीगोसाईंजीके साथ श्रीगोकुलजीमें गये और श्रीनवनीतप्रियाजीके दर्शन किये। बाललीलाके तथा पालनाके कीर्तन किये एवं दर्शन करके गोपालपुर आ गये। वहाँ कुम्भनदासजीने पूछा—'तुम कहाँ गये थे?' आप बोले—'श्रीगोकुलजीमें गया था?' कुम्भनदासजी बोले—'प्रमाणमें क्यों चले गये।' तब चतुर्भुजदासजीने श्रीगोसाईंजीसे पूछा कि प्रमाण-प्रकरण-लीला और प्रमेय-प्रकरण-लीलामें क्या भेद है? श्रीगोसाईंजी बोले—'भगवल्लीला सब एक समान है। कुम्भनदासजीकी किशोरलीलामें बहुत आसक्ति है। भगवल्लीलामें भेद समझते नहीं। श्रीठाकुरजी विरुद्धधर्माश्रय हैं। एककालावच्छिन्न श्रीप्रभु सर्वत्र सब लीला करते हैं। यह सुनकर चतुर्भुजदासजी बहुत प्रसन्न हुए।

यह चतुर्भुजदास श्रीगोसाईंजीके बहुत कृपापात्र थे। इनसे श्रीगोसाईंजी कुछ भी गुप्त नहीं रखते थे।

(९)

चतुर्भुजदासजीके बाद उनके पुत्र राघवदास थे। जब राघवदासको भगवल्लीलाका अनुभव हुआ तो उन्होंने एक धमार गायी—

ए चल जायें जहाँ हरि क्रीड़त गोपिन संगा।

जब इस धमारकी दस तुकें पूरी हो गयीं तो राघवदासजीकी देह छूटी और भगवल्लीलामें प्रवेश हुआ।

राघवदासजीके बाद राघवदासजीकी पुत्रीने डेढ़ तुक बनायी और धमार पूरी की।

ऐसे चतुर्भुजदासजी थे कि जिनके पुत्र और पौत्री भी भगवदीय थे। उनकी वार्ता कहाँतक लिखें?
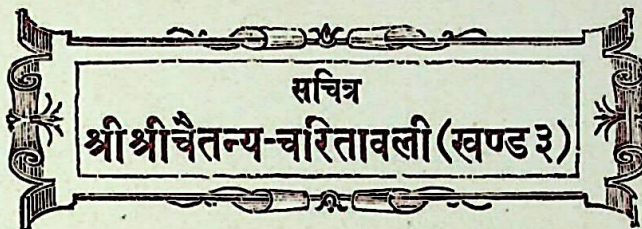
पृष्ठ ३८४; चित्र ११ सम्पूर्ण रंगीन, मू० १) सजिल्द १।), छपाई सुन्दर, कागज एण्टिक। त्याग, वैराग्य और प्रेमके समुद्र श्रीचैतन्यदेवकी जीवनी भक्तोंको आनन्द देनेवाली है। गौरहरिकी संन्यास-दीक्षा, पुरी-गमन, श्रीजगन्नाथ-जीके दर्शन, आचार्य सार्वभौमसे भेंट, दक्षिणयात्रा, कुष्ठी-उद्धार, दक्षिणके तीर्थोंका भ्रमण, तीर्थरामको प्रेमदान, वेश्या-उद्धार, डाकूका उद्धार, नीलाचलमें पुनरागमन, भक्तोंका अपूर्व सम्मिलन, रथ-यात्रा, महाराज प्रतापरुद्रको प्रेमदान, अमोघ-उद्धार, नित्यानन्दका नाम-वितरण आदि मनोहारी लीलाएँ इस खण्डमें वर्णित हैं। पढ़कर आनन्द लाभ कीजिये।

चौथा खण्ड छप रहा है। हिन्दीमें श्रीमहाप्रभुकी इतनी बड़ी जीवनी अभीतक कहींसे भी प्रकाशित नहीं हुई। महाप्रभुकी लोकपावनी अपूर्व लीलाओंका अधिक क्या परिचय दिया जाय ? एक बार पढ़नेसे ही पता लगेगा।

भजन-संग्रह पाँचवाँ भाग

(पत्र-पुष्प)

श्रीविष्णुभगवान् और श्रीकृष्णभगवान्के २ रंगीन चित्र, पृष्ठ १६०, चिकना कागज, मूल्य =) मात्र (संशोधित और परिवर्द्धित नवीन तीसरा संस्करण) १६२५० छप चुका है।

यह श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके समय-समयपर बनाये भजन एवं कविताओंका संग्रह है। भावमय धार्मिक भजन आदिके द्वारा वृत्तियाँ सरलतासे भगवत्-चरणोंमें लगती हैं। यह सभीके पढ़नेयोग्य है।

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर

The Immanence of God.

By

Pandit Madan Mohan Malaviya.

Price 2 annas

The above is a small tract of 48 pages printed on thick paper. Contains beautiful ideas on the greatness and all-pervasiveness of God, presented in a simple lucid and homely style which is so characteristic of the revered author. The booklet is a masterly exposition of the Hindu-conception of God, based on the Vedas, the Smṛtis and the Purānas and deals with the subject in all its bearings fully yet succinctly. It breathes throughout a spirit of unique tolerance and broadmindedness which is as notable feature of Sanātana Dharma and distinguished it from all the other religion of the world and has a stamp of the author's own personality imprinted on it. The book should reach the hands of all who are interested in the broadcasting of theistic ideas and the glorification of God.

The Manager,
The Kalyana-Kalpataru,
Gorakhpur.

Registered No. A. 1724.

प्रकाशित हो गयीं | नयी पुस्तकें | प्रकाशित हो गयीं

श्रीबदरी-केदारकी झाँकी

लेखक—श्रीमहावीरप्रसादजी मालवीय वैद्य "वीर"

इसमें हरद्वार, ऋषिकेश, लक्ष्मणझूला, व्यासघाट, देवप्रयाग, श्रीनगर, रुद्रप्रयाग, गुप्तकाशी, त्रियुगी-नारायण, गौरीकुण्ड, केदारनाथ, ऊखीमठ, तुङ्गनाथ, गरुडगंगा, जोशीमठ, विष्णुप्रयाग, बदरीनाथ, नन्दप्रयाग, कर्णप्रयाग, आदिबदरी, यमुनोत्री, गङ्गोत्री इत्यादि उत्तराखण्डके तीर्थोंका सानुभव वर्णन है।

यात्रामें होनेवाली कठिनाइयाँ, यात्रामें आवश्यक वस्तुएँ, चट्टियोंकी संक्षिप्त सूची, प्राचीन स्थानोंका ऐतिहासिक वर्णन, प्रधान-प्रधान स्थानोंका अन्तर इत्यादि सामग्रियोंसे पुस्तक यात्रियोंके लिये बहुत उपयोगी हो गयी है।

१ रंगीन, ४ सादे चित्र, उत्तराखण्डका नकशा, पृष्ठ-सं० ११२, मूल्य ।) मात्र ।

श्रीवेणीमाधवदासविरचित

मूल गोसाईं-चरित

(गोस्वामी तुलसीदासजीका जीवन-चरित्र)

श्रीगोसाईंजी महाराजके सम्बन्धमें कुछ भी लिखना सूर्यको दीपक दिखाना है। हिन्दी-संसारमें ऐसा कौन होगा जो उनसे अपरिचित हो। यह जीवन-चरित पद्यमें उन्हींके शिष्य श्रीवेणीमाधवदासजी-द्वारा विरचित है और बहुत प्रामाणिक माना जाता है।

३६ पृष्ठ, श्रीगोसाईंजीका चित्र, मूल्य केवल ~)। सवा आना ।

यूरोपकी भक्त-स्त्रियाँ

सम्पादक-श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार

सचित्र, संक्षिप्त भक्त-चरितमालाकी पुस्तकें स्त्री, पुरुष, बालक, वृद्ध सभीके लिये बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुई हैं। इन छोटी-छोटी भक्तिरसपरिपूर्ण जीवनियोंके जो संस्कार हृदयपर अङ्कित होते हैं वे आगे चलकर बहुत बड़ा काम करते हैं। प्रस्तुत पुस्तक उसी ग्रन्थमालाका ९ वाँ पुष्प है। इसमें यूरोपकी चार भक्त नारियाँ—साध्वी रानी एलिज़ाबेथ, साध्वी कैथेरिन, साध्वी गेयों, साध्वी लुइसाकी उपदेशप्रद जीवनियाँ हैं। तीन दोरंगे चित्र, पृष्ठ-सं० ९२, मूल्य ।) मात्र ।

कल्याण-भावना

लेखक—श्रीताराचन्द्रजी पाँड्या

इस नन्ही-सी कवितामय पुस्तकका मूल्य)। है। भक्तिभावपूर्ण पठनीय कविता है।

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर